ॐ

॥ गुरुचरणरतोऽहं भैरवोऽहं शिवोऽहम् ॥

भैरव-विज्ञान

लेखक : श्री कृष्णानन्द बुधौलिया

प्रकाशक

श्री पीताम्बरा पीठ संस्कृत परिषद्

दतिया (म. प्र.)

ॐ

॥ गुरुचरणरतोऽहं भैरवोऽहं शिवोऽहम् ॥

भैरव-विज्ञान

लेखक : श्री कृष्णानन्द बुधौलिया

प्रकाशक

श्री पीताम्बरा पीठ संस्कृत परिषद

दतिया (म. प्र.)

॥ श्री ॥

भैरव विज्ञान



लेखक

श्री कृष्णानन्द बुधौलिया वेदान्त शास्त्री

M. A. (Sans.) M. A. (Phil.) LL. B.



श्री पीताम्बरापीठ संस्कृत परिषद्

दतिया (म. प्र.)

प्रकाशक
श्री पीताम्बरापीठ संस्कृत परिषद्
दतिया (म. प्र.)



प्रथम संस्करण १००० प्रतियां
मकर संक्रांति, संवत् २०३९
जनवरी, सन् १९८३

मूल्य – ९ रु.

मुद्रक
स्वाती एण्टरप्राइज
२०, ग्रेट नागरोड, नागपुर-९
फो. ४२८४०

प्रकाशकीय

भैरव विज्ञान ग्रन्थ पूज्यपाद के समय में ही विरचित हो गया था। उसी समय से इसके प्रकाशन की योजना चल रही थी। भैरव विज्ञान के लेखक आश्रम के विद्वान् साधक श्री कृष्णानन्द बुधौलिया हैं। ग्रन्थ में शाक्तसाधना के गूढ़तम रहस्यों को सरल भाषा में उद्घाटित किया गया है। अहं निरूपण, ब्रह्म का स्वरूप लक्षण, आत्मतत्त्व निरूपण आदि शीर्षकों द्वारा तन्त्र शास्त्र में प्रतिपाद्य अद्वैत तत्त्व का भी बहुत ही सुन्दर विवेचन हुआ है। सभी सामग्री प्रामाणिक तथा शास्त्रसम्मत है। इस पुस्तक से सभी साधक लाभान्वित होंगे। संस्कृत परिषद् की ओर से मैं लेखक महोदय के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। ग्रन्थ के प्रकाशन का समस्त व्ययभार पं. श्री शिवनाथ शर्मा ने वहन किया है, तदर्थ गुरुचरणों से उनके कल्याण की कामना करता हूँ।

आशा है प्रस्तुत ग्रन्थ से सभी साधक लाभान्वित होंगे।

विनीत

ललिता प्रसाद शास्त्री

मन्त्री

श्री पीताम्बरापीठ संस्कृत परिषद्

दतिया (म. प्र.)

आश्विन शुक्ल प्रतिपदा

संवत् २०३९

मंगलकामना



राजभवन, भोपाल
२ दिसम्बर, १९८२

भारत वर्ष ईश्वर; आत्मा तथा अन्य मोक्ष मार्गों की एक बहुत बड़ी अनुसंधान शाला है। वेद मूल स्रोत हैं। वेदों को समझाने के लिए ऋषियों ने अरण्यक उपनिषदों की रचना की। उनको और सरल बनाने के लिए भगवान श्री कृष्ण ने सब का निचोड़ श्रीमद्भगवद्गीता में किया और इन सभी चीजों का निचोड़ ॐ अक्षर में स्वयं हो गया। वर्तमान मनुष्य अन्न पर आधारित है, इस लिए उससे शिवशक्ति की उपासना हो नहीं सकती। इसका सुगम मार्ग श्रीमद्भागवत् में भक्ति मार्ग ही बतलाया है। जितने भी मनीषी इस दुनिया में बढ़े उन्होंने एक ही तत्त्व पाया कि यदि मनुष्य पूर्ण भक्त हो गया तो उसका ज्ञानकपाट ही खुल गया। यदि ईमानदारी से कर्म करता रहा तो उसको ज्ञान और भक्ति भी साथ मिल गई।

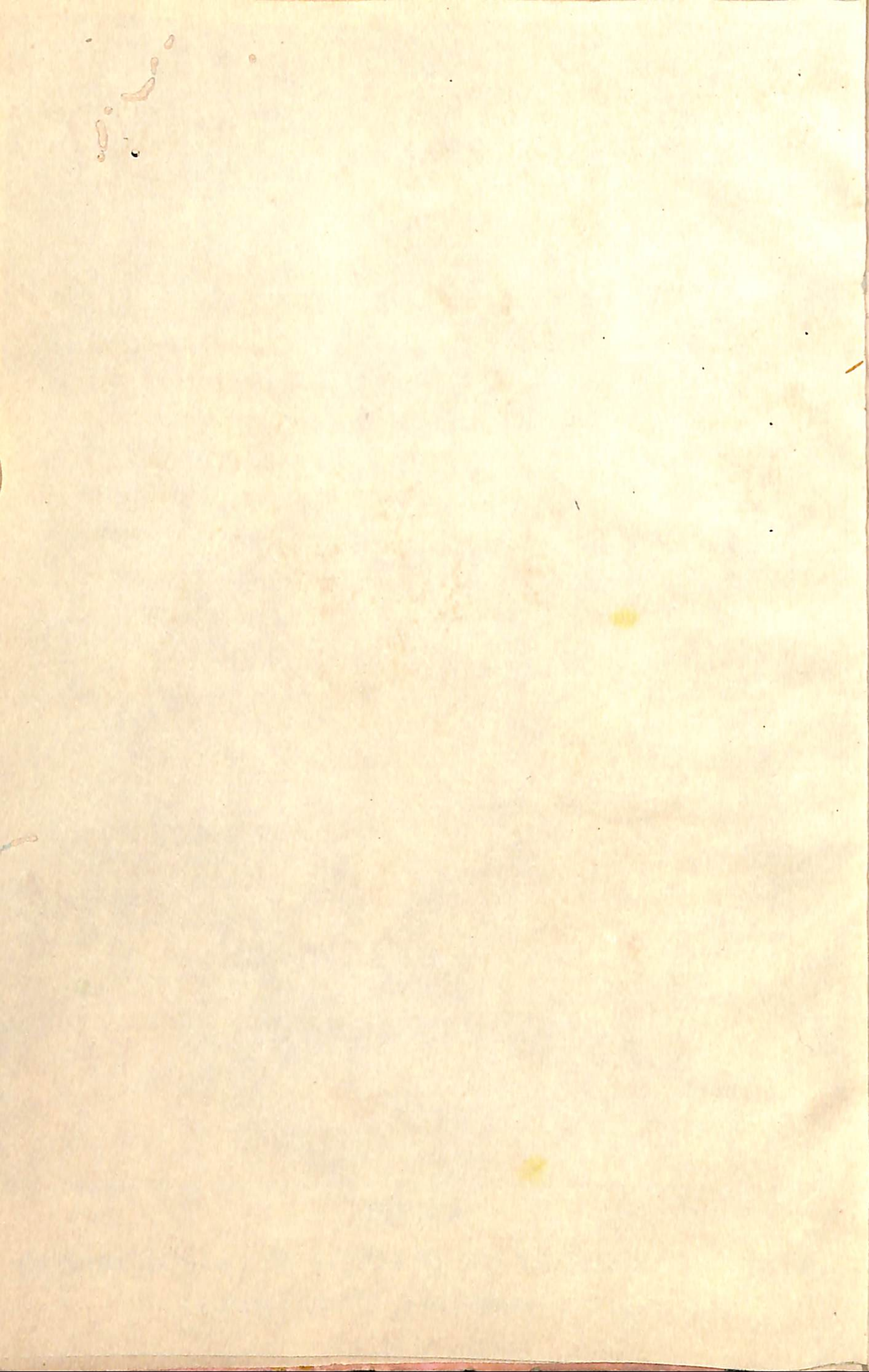
श्री पीताम्बरा पीठ एक जागृत पीठ है। वहां श्री गुरुदेव ने जो साधना की उससे वह अब भी आलोकित है। महाराज की देखरेख में जो प्राचीन विधियों को जीवित रखने का प्रयास किया गया वह बहुत सराहनीय है। श्री बुधौलिया जी ने कई पुस्तकों की रचना की तथा अनुवाद किया। इतने गहन विषय में गुरुकृपा के बिना प्रवेश नहीं किया जा सकता। पहले अवतार हुए हैं जिनकी हम पूजा करते हैं, किन्तु अब विश्व में हर मानव को छूने की आवश्यकता है, तभी विश्वकल्याण हो सकता है और भगवान का विराट स्वरूप वास्तव में यही है। श्री बुधौलिया जी का प्रयास सफल हो यही मेरी मंगलकामना है।

भगवत दयाल
(राज्यपाल)



ब्रह्मलीन

श्री पीताम्बरा पीठाधीश्वर राष्ट्रगुरु परमपूज्य श्री १००८ श्री स्वामी जी महाराज, वनखण्डेश्वर, दतिया (म०प्र०)



पुरोवाक्

श्री कृष्णानन्द बुधौलिया की नवीनतम कृति 'भैरव विज्ञान' तन्त्र-शास्त्र और तान्त्रिक-साधना के जिज्ञासुओं के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है। पञ्चमकारों की दक्षिणमार्गी प्रतीकात्मक व्याख्या से प्रारम्भ कर तन्त्र शास्त्र के महत्त्व तथा ब्रह्म, अहम्, आत्मतत्त्व, बन्ध और अद्वैत जैसे दार्शनिक विषयों का गम्भीर शास्त्रीय किन्तु तान्त्रिक दृष्टिकोण से प्रतिपादन करते हुये वह भैरव-साधना की ओर बढ़ती है। भैरव को शिव का पर्याय मानकर लेखक ने इस ग्रन्थ में पशुभाव से शिवतत्त्व की प्राप्ति तक की प्रक्रियाओं पर विचार किया है। स्पन्द-कारिका "कला-विलुप्त-विभव" जीव को पशु नाम से अभिहित करती है और स्वच्छन्द शास्त्र उसे उपदेश देता है कि उसका वास्तविक रूप भैरव है। साधक को अपने इसी भैरव रूप की भावना करनी चाहिये--

आत्मनो भैरवं रूपं भावयेद् यस्तु पूरुषः।
तस्य मन्त्रा प्रसिद्धचन्ति नित्ययुक्तस्य सुन्दरि ॥

तन्त्र शास्त्र के ग्रन्थ शिव को भैरव भी कहते हैं। श्री बुधौलियाजी ने इस बात की पुष्टि के लिये--**"स एव भैरवो देवो जगद्भरण लक्षणः"**। यह श्लोकार्धं कहीं से उद्धृत किया है। यह मान्यता पुराणों और सामान्य लोक-धारणा के विरुद्ध जाती है। पुराणों में भैरव शिव के गणों में से एक हैं। इसीलिये शिवालयों में शिव से पृथक् भैरव की मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती है और श्वान उनका वाहन दिखाया जाता है। कालिका पुराण के ५० वें अध्याय में भैरव शिव के पुत्र कहे गये हैं जिनका नामकरण नारद ने किया था। वे चन्द्रशेखर की पत्नी तारावती के गर्भ में स्थित शिव के वीर्य से उत्पन्न हुए थे। ऐसी स्थिति में भैरव विषयक तान्त्रिक मान्यता को कुछ अधिक पुष्ट प्रमाणों द्वारा स्पष्ट करना उचित होता। तान्त्रिक दृष्टि से भैरव का राशिमय रूप, अहंभाव (प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिः), धारणाशक्ति, शाक्तसाधना, श्रीचक्र, मन्त्र,

पूजा और भैरवयोग—य प्रकरण लेखक के व्यापक अध्ययन के परिचायक है। नाद साधना, जप और अजपा योग भी साधकों के लिये विशेष उपयोगी है। परिशिष्ठों में योगवासिष्ठ के ८० वें और ८१ वें अध्याय के उदाहरण से पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ गया है। इन अध्यायों में शिव की विराट् आकृति एवं शास्त्रों का विभिन्न प्रतीकों द्वारा विशद वर्णन महाप्रलयावस्था में उनके अवशिष्ट रूप का सुन्दर निरूपण भी है—

ये गुणाकृतयः कालाश्चित्ताहंकारबुद्धयः।
प्रणवस्य च ये वर्णा ये च वेदास्तथा त्रयः॥
रुद्रस्य तस्य ते नेत्र संनिवेशेन संस्थिताः।
त्रिशूलं तेन त्रैलोक्यं गृहीतं करकोटरे॥

कालरात्रि का वर्णन तो साहित्यिक दृष्टि से भी प्रभावोत्पादक है और अन्त में उपसंहार रूप से शाक्तसाधना का सार भी प्रस्तुत कर दिया गया है—

महती भैरवी देवी नृत्यत्यापूरिताम्बरा।
तस्य कल्पान्त रुद्रस्य सा पुरो भैरवाकृतेः॥

इसी को शंकर ने **'शिवः शक्त्या युक्तः'** कहा है।

श्री बुधौलियाजी की यह कृति उनके व्यापक तथा गम्भीर अध्ययन की परिचायिका तो है ही, पाठक के लिये तान्त्रिक मान्यताओं के दार्शनिक कक्ष के कई द्वार उद्घाटित करती है।

विद्यावाचस्पति
डा. प्रभुदयाल अग्निहोत्री
भू. पू. कुलपति

ई० २/७३ अणेकालोनी
भोपाल ४-१-८३

दो शब्द

'श्री भैरव विज्ञान' पुस्तक के आद्योपान्त अध्ययन के पश्चात् मेरा यह निश्चित मत है कि लेखक ने एक दुरूह विषय को पूज्यपाद की कृपा से सरल व विश्लेषणात्मक पद्धति से निरूपित किया है। भैरव से सम्बन्धित विषय की खोज व गवेषणा के पश्चात् प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर पुस्तक की रचना की गई है। 'श्रीयन्त्र' से देवी का एवं वर्णमाला से भैरव का सम्बन्ध ही निरूपित नहीं किया गया है अपितु कश्मीर शैवदर्शन के आधार पर भैरव की विवेचना भी की गई है। मन्त्र शास्त्र के अध्ययन तथा भैरव योग साधना क्रम के वैज्ञानिक निरूपण में यह पुस्तक एक महती उपलब्धि है। श्री पीताम्बरा पीठ परिषद ने साधकों का मार्ग इस ग्रन्थ द्वारा प्रशस्त किया है।

हेमचन्द्र
एम. ए. (अंग्रेजी) एम. ए. (हिन्दी)
अध्यक्ष अंग्रेजी विभाग
शासकीय महाविद्यालय
खाचरोद (म. प्र.)

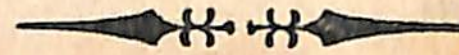
निवेदन

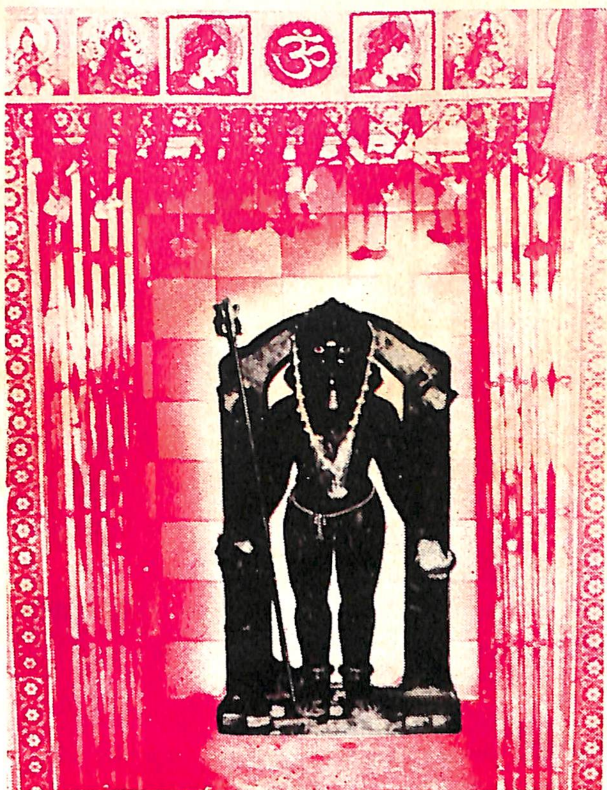
परमपूज्य गुरुवर श्री १००८ श्री स्वामी जी महाराज ने पीताम्बरा पीठ पर महाकाल भैरव की मूर्ति-प्रतिष्ठा की। उसी समय महाकाल भैरव के सम्बन्ध में दार्शनिक लेख लिखने के लिए गुरुजी ने आदेश दिया तथा समय-समय पर भैरव से सम्बद्ध शिवागम, तन्त्र तथा वेदान्त की पुस्तकों को प्रदान किया और उनका सार 'भैरव ग्रन्थ' में लिखने का संकेत किया। अतः इसके फलस्वरूप भैरव का जो अद्वैत एवं योगपरक स्वरूप सामने आया उसका सार इस ग्रन्थ में देने का प्रयास किया गया है। योग वासिष्ठ के दो प्रकरण, जो गुरुजी को अत्यन्त प्रिय रहे हैं, वह भी उनकी आज्ञा से यहाँ जोड़ दिए गये हैं। इनमें भैरव के प्रलयंकारी नृत्य का मार्मिक एवं रोचक विवरण है, किन्तु पुस्तक के कलेवर की वृद्धि के भय से उनका भाषानुवाद नहीं दिया जा सका है। पुस्तक में गुरु प्रदत्त ज्ञान एवं निर्दिष्ट क्रियात्मक अभ्यास को यथा शक्ति सरल भाषा में समाविष्ट करने का प्रयास किया है। कामना है कि गुरुकृपा से साधकों के ज्ञान एवं साधना में नित्य नवीन अभिवृद्धि एवं सिद्धि प्राप्त हो।

कृष्णानन्द

भैरव विज्ञान

अनुक्रमणिका





ब्रह्मस्वरूप श्रीमहाकालभैरव

श्री भैरव विज्ञान

प्रस्तावना

" गुरुचरण रतोऽहं भैरवोऽहं शिवोऽहं "

कर्म पास में बद्ध एवं जन्म-मरण के सतत प्रवाह में प्रवाहित जीव के उद्धार के हेतु निगम एवं आगम दो सनातन विचार स्रोत हैं जिनके समर्थन अथवा विरोध से अन्य सभी भारतीय बिचारधाराओं का उद्‌गम हुआ है।

निगम एवं आगम विचारस्रोत की तीन मुख्य धाराएँ हैं—

१) कर्म काण्ड २) ज्ञान काण्ड एवं ३) उपासना काण्ड। यह तीनों विचार प्रकरण परस्पर सम्बद्ध हैं। तीनों धाराओं के त्रिवेणी रूप संगम में स्नान करने से ही जीव का उद्धार सम्भव है। यद्यपि विचारकों ने इनका पृथक मार्गों के रूप में भी समर्थन किया है। ज्ञान के बिना उपासना का मार्ग अन्धा है तथा ज्ञान के बिना कर्म बन्धन का हेतु हो जाता है तथा उपासना एवं क्रिया के बिना ज्ञान पंगु है।

कर्म काण्ड का मूल इच्छा है। मनुष्य इच्छाओं की गठरी है तथा इच्छाओं के जाल में फंसा हुआ अनवरत चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण करता है तथा आजीवन परवशता के कारण इच्छाओं की पूर्ति के हेतु प्रयत्नशील रहता है। संसार की इच्छाओं का विस्तार तुच्छ से तुच्छ भोग से प्रारम्भ होकर स्वर्ग भोग पर्यन्त है। वैदिक कर्म काण्ड में इच्छाओं की पूर्ति के हेतु यज्ञों का विधान किया गया है। कहा है **"स्वर्गकामो यजेत", "पुत्रकामो यजेत"** ॥ आदि।

यह समस्त यज्ञीय विधान इस प्रकार जटिल, व्ययसाध्य एवं कष्ट-साध्य हो गया है कि जन साधारण की सामर्थ्य के बाहर है। इसके अतिरिक्त कर्म फल की प्राप्ति भी निश्चित नहीं है। अन्ततोगत्वा ईश्वर इच्छा को ही बली कहा है। यदि दैव वश स्वर्ग की प्राप्ति हो भी जावे तब पुण्य क्षीण हो जाने पर पुनः मर्त्यलोक में जन्म मरण की श्रृङ्खला में बँध कर अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। "**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**"। सन्त तुलसीदास ने इच्छाओं के स्वरूप को एक दोहे में संक्षिप्त करने का प्रयास किया है—

जरा मरण दुख रहित तनु, समर जितै नहिं कोय।
एक छत्र रिपुहीन महि, राज्य कल्पशत होय॥

प्रतिक्षण वर्धमान अनन्त इच्छाओं की तृप्ति के हेतु कल्पित यज्ञीय कर्मकाण्ड के अनुष्ठान से जीव की निवृत्ति असम्भव है। श्रीमद्भागवत में कहा है :—

"यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम्।
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्माष्टुमर्हति"॥

जिस प्रकार मल से मल को नहीं धोया जा सकता है, एवं थोडीसी सुरा की दुर्गन्ध को सुरा के सरोवर में स्नान करने पर भी दूर नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार असंख्य यज्ञों के अनुष्ठान से भी एक जीव की हत्या के कलङ्क का परिमार्जन असम्भव है।

यज्ञानुष्ठान की वैज्ञानिकता तथा दार्शनिकता के सम्बन्ध में यहां कुछ भी नहीं कहना है किन्तु भारतीय विचार-क्षितिज पर इच्छा मूलक कर्म-काण्ड के दो प्रकार के प्रभाव स्पष्ट हैं :— १) बहुदेवतावाद एवं २) यज्ञीय हिंसा से प्रस्तारित धर्म के नाम पर अनिष्टकारी हिंसा का प्रसार। पीछे तान्त्रिक पूजा पद्धतियों में तथा शक्ति पीठों में भी इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

दूसरी ओर इस बात का प्रतिकार भी नहीं किया जा सकता कि बहुदेवता वाद एवं हिंसा ने अपने प्रतियोगी अद्वैतवाद एवं अहिंसा वाद को प्रोत्साहन दिया। वेदों में गौण रूप से अङ्कुरित अद्वैत एवं अहिंसा का बिस्तार आरण्यक एवं उपनिषदों में स्पष्ट रूप से पल्लवित एवं पुष्पित हुआ है।

कतिपय धर्म गुरुओं ने हिंसा के विरुद्ध प्रत्यक्ष विरोध किया, यहां तक कि वेदों की प्रामाणिकता पर संदेह व्यक्त कर नास्तिकता का प्रचार किया। ऐसे सम्प्रदायों में चारुवाक् बौद्ध एवं जैन सिद्धान्तावलम्बी प्रमुख है। बौद्धों का समाज पर इतना अधिक प्रभाव हुआ कि बुद्ध को भगवान का अवतार माना जाने लगा तथा जयदेव कवि को विवश होकर लिखना पड़ा—" **निन्दसि यज्ञ-विधेरहह श्रुति जातं। सदय-हृदय दर्शित पशुघातं। केशवधृत बुद्ध शरीर** "॥ यज्ञीय विधि में पशु-घात से द्रवित होकर भगवान केशव ने अहिंसा का मार्ग प्रदर्शित करने के हेतु बुद्ध के रूप में अवतार ग्रहण किया। अन्य वैदिक सम्प्रदायों में भी अहिंसा को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है जिसका प्रभाव वेदान्ती, वैष्णव आदि साधनाओं में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है एवं सत् धर्म प्रवर्तक तन्त्रों में भी अहिंसा का प्रभाव स्पष्ट है। शैव मत की घोषणा है:—

"क्व मांसं क्व शिवे भक्तिः क्व मद्यं क्व शिवार्चनं।
मद्यादि पूजा निरतैः, दुष्प्रायो हि शङ्करः॥"

यद्यपि शाक्त सम्प्रदाय में भी मद्य, मीन, मांस, मुद्रा, मैथुन नामक पञ्च मकारों को पूजा में प्रयोग करने का प्रावधान है तथापि यह पदार्थ केवल तामसी वृत्ति के साधकों की बाह्य पूजा में उपयोगी कहे गये हैं।

अष्टांग योग अथवा अन्य सभी प्रकार के मोक्षोपायों में '**अहिंसा सत्यमस्तेयः ब्रह्मचर्यमपरिग्रहः**' पञ्च यमों को आधार भूत स्वीकार किया गया है। यहां शाक्त साधना में भी अहिंसा का प्रथम स्थान है।

अतएव आन्तरिक पूजा में पञ्च मकारों की परिभाषा परिवर्तित हो जाती है। व्योम पङ्कज से निस्यूत सुधा रस का नाम मद्य है। योगीजन इस सुधा रस को जिह्वा एवं गले के संयोग से पान करते हैं। यहां गुड अथवा द्राक्षा से सिद्ध की गई मद्य अभिप्रेत नहीं है। ज्ञान-खड्ग से पुण्यापुण्य रूपी पशु को संहार कर योगी चित्त को परतत्त्व में लय करता है उसको मांसभोजी कहा गया है। उदर पूर्ति अथवा रसास्वादन के हेतु पशुओं के मांस को भक्षण करने वाला नरक का भागी है। गंगा एवं यमुना के मध्य दो मत्स्य भ्रमण करते हैं अर्थात् इडा एवं पिङ्गला नाडी के अन्तर्गत प्राण एवं अपान का संचार होता है, यही दो मत्स्य हैं जिनका भक्षण कर योगी मत्स्य-साधक कहा जाता है। सत्संग मुक्ति का कारण है तथा असत्संग बन्धन का हेतु है। जिस साधन से असत्संग का मुद्रण होता है उसको मुद्रा नाम से सम्बोधित किया गया है। इडा एवं पिङ्गला में सञ्चरित प्राणापान का सुषुम्ना में प्रवर्तन करने से सिद्धि प्राप्त होती है। सुषुम्ना को शक्ति एवं जीव को शिव नाम से सम्बोधित किया जाता है अतएव शक्ति एवं शिव के संगम को ही सुरत अथवा मैथुन प्रतिपादित किया गया है। जैसा कि तन्त्र में कहा है:—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपञ्चकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम् ॥

व्योम पङ्कजनिस्यन्द सुधापान रतोनरः।
मधुपायी समः प्रोक्तः त्वितरे मद्य पायिनः ॥

जिह्वया गल संयोगात् पिवेत् तदमृतं तदा।
योगिभिः पीयते तत्तु न मद्यं गौडपौष्टिकम् ॥

पुण्यापुण्ये पशुं हत्वा ज्ञान-खड्गेन योगवित्।
परे तत्त्वे नयेच्चित्तं मांसाशी स निगद्यते ॥

गंगायमुनयोर्मध्ये द्वौ मत्स्यौ चरतः सदा ।
तौ मत्स्यौ भक्षयेत् यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधकः ॥
सत्संगेन भवेन्मुक्तिरसत्संगेषु बन्धनम् ।
असत्संगमुद्रणं यत्तु तन्मुद्रा परिकीर्तिता ॥
इडा पिङ्गलयोः प्राणान् सुषुम्नायां प्रवर्तयेत् ।
सुषुम्ना शक्तिरुदिष्टा जीवोऽयं तु परः शिवः ।
तयोस्तु संगमं देवैः सुरतं नाम कीर्तितम् ॥

——:०:——

अद्वैत

वैदिक कर्मकाण्ड में अनेक देवताओं की कल्पना की गई है जो साधक की इच्छाओं के अनुसार फल प्रदान करते हैं। बहु देवता वाद कालान्तर में अद्वैत वाद में परिणत हो गया। यद्यपि मन्त्र संहिता में अद्वैत वाद के बीज उपलब्ध हैं तथापि अद्वैत वाद, ब्रह्मवाद, अथवा एक ईश्वर वाद के सिद्धान्त का पूर्ण विकास उपनिषद् एवं आरण्यक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। उपनिषदों के आधार पर ही महर्षि वेदव्यास ने ब्रह्म सूत्रों की रचना कर आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक पक्ष में नवीन अद्वैतात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया तथा जन साधारण के लिये पञ्चम वेद की रचना की जो महाभारत के नाम से प्रसिद्ध है। स्त्री, शूद्र एवं द्विज बन्धुओं के लिये वेदों में प्रवेश निषिद्ध रहा है किन्तु भगवान व्यास की बिशाल बुद्धि ने समाज में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी तथा वेदों में निहित गूढ रहस्यों का समस्त समाज के उपयोग के लिये उद्घाटित कर दिया। श्रीमद्भागवत् में कहा है:–

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
तस्मात् भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥

महाभारत के एकमात्र टीकाकार पण्डित नीलकण्ठ ने **"नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥"** श्लोक की व्याख्या करते हुए जय नाम से प्रसिद्ध महाभारत को संसार-विजयी ग्रन्थ निरूपित किया है। कहा है:–**"संसार जयिनं ग्रन्थं जयनामानमीरयेत्॥"**

इस ग्रन्थ के तीन मुख्य विषय हैं। १) जीव की अविद्या से कल्पित होने के कारण जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन २) सत्ता–स्फूर्ति–प्रद होने से ब्रह्म के सत्यत्व का निरूपण तथा ३) जीव एवं ब्रह्म के

ऐक्य का समर्थन। भविष्य पुराण में शाश्वत विष्णु धर्म एवं शिव धर्म को महाभारत का प्रतिपाद्य विषय बताया है। यह भारत नामक ग्रन्थ सर्व पुरुषार्थ का प्रतिपादक है एवं शारीरिक सूत्रों के भाष्य के रूप में इसकी रचना की गई है। श्रीमद्‌भगवत् गीता महाभारत का ही सार है। इस प्रकार उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्‌भगवत् गीता अद्वैत मत के प्रस्थान अर्थात् आधारभूत कहे गये हैं जो दार्शनिक–जगत में प्रस्थान त्रयी नाम से प्रसिद्ध हैं जिन पर शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य आदि वेदान्ती पण्डितों ने भाष्य लिख कर अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि मतों का प्रतिपादन किया है तथा शैव एवं शाक्त दार्शनिकों ने भी भाष्य लिखकर अद्वैत का प्रतिपादन करते हुए आगम तथा तन्त्र मार्ग को वैदिक सिद्ध किया है। शाक्त, शैव, एवं वेदान्त सम्प्रदायों का ध्येय समान रूप से अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन करना है। बौद्ध सम्प्रदाय भी अद्वैत का प्रतिपादक है किन्तु यह वेदवाह्य मत है। बौद्ध दर्शन का योगाचार सम्प्रदाय 'विज्ञानाद्वैत', एवं माध्यमिक सम्प्रदाय 'शून्याद्वैत' का निरूपण करता है। बौद्ध सम्प्रदाय पर अद्वैत सिद्धान्त का इतना अधिक प्रभाव बढा कि कालान्तर में स्वयं भगवान बुद्ध को ही अद्वैत नाम से संबोधित किया जाने लगा। कतिपय विद्वानों का मत रहा है कि शांकर मत पर शून्यवाद का गहरा प्रभाव है अत एव शंकराचार्य को भी शून्यवादी कहा गया है **"यत् शून्यवादी शून्यं तदेव ब्रह्म मायिनः"**। इस सम्बन्ध में "लेख संग्रह" नामक ग्रन्थ में उद्धृत श्री स्वामी जी महाराज का संस्कृत में लिखा गया लेख महत्त्वपूर्ण है।

कहा जाता है कि शाक्त एवं शैव दर्शनों पर भी शून्याद्वैत का प्रभाव है। समस्त काश्मीर घाटी बौद्ध मत से प्रभावित हो गई थी, तथा शिव सूत्रों की खोज के पश्चात अनेक बौद्ध दार्शनिकों ने पुनः शैव मत की दीक्षा ग्रहण की तथा तन्त्र के अनेकों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर भाष्य लिखकर शैवाद्वैत मार्ग का विस्तार किया। शैव मत में शून्य का अर्थ बौद्ध मत की शून्यता से भिन्न है। शून्यता से अभिप्राय सत्ताशून्य स्थिति से नहीं है अपितु साधक के समस्त अवलम्बनों, तत्त्वों एवं

क्लेश आशयों से शून्य मनःस्थिति को ही शून्यता के नाम से प्रतिपादित किया है। शून्यता का अर्थ सत्ता राहित्य अर्थात पारमार्थिक सत्ता की शून्यता से नहीं है। चिद्विलास नामक आगम ग्रन्थ में कहा है कि अद्वैत सुधारस समुद्र में विधिवत स्नान करने से ही आणव आदि मलों से मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

तीर्थमद्वय सुधारसोदधेर्वारितं निजविमर्शं वेलया।
आणवादिमलमोचनोचितं स्नानमत्र विधिना निमज्जनम् ॥

न्याय दर्शन यद्यपि अद्वैत वाद को स्वीकार नहीं करता है तथापि न्यायदर्शन के मूर्धन्य प्रवक्ता उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्व-विवेक नामक ग्रन्थ में अद्वैतवाद पर विशेष आस्था प्रकट की है।

——:०:——

तन्त्र शास्त्र का महत्त्व

निगम तथा आगम, आस्तिक विचार–सृष्टि की सहोदर कृति मान्य की जाती हैं। वैदिक विज्ञान का निगम शब्द से व्यवहार किया जाता है, 'नितरां गमयति' व्युत्पत्ति के अनुसार निगम वह विज्ञान है जिसमें परम सत्य का पूर्ण विवेचन उपलब्ध है। दूसरा आगम विज्ञान है जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति के उपायों को बुद्धिगम्य निरूपित किया गया है। आगम की परिभाषा करते हुए लिखा है—

"आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मात् अभ्युदय निश्रेयसोपाया:"।

तत्त्व-वेत्ता महर्षियों ने दिव्य अनुभूति के द्वारा निगम एवं आगम शास्त्रों की रचना की है। अतएव वैदिक धर्म के अनादि प्रवाह का निगमागम शब्द से व्यवहार किया जाता है। वास्तविकता यह प्रतीत होती है जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा है कि हिन्दू समाज की यह जीवन-यज्ञ-पद्धति वैदिक–तान्त्रिक एवं मिश्र तीन प्रकार की विचार-धाराओं का संगम है।

" वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रः इति मे त्रिविधो मखः "।

(भा० स्कं० ११)

कलियुग में वैदिक मार्ग की अपेक्षा आगम एवं तान्त्रिक मार्ग का विशेष प्रचार है। जैसा कि कहा गया है—

" श्रुति युक्तस्तु कृते धर्मः त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागम सम्भवः" ॥

वैदिक कर्म–विधि की जटिलता एवं उदात्त अनुदात्त आदि स्वर–संविधान के उच्चारण की दु:साध्यता के कारण वैदिक कर्म लुप्तप्राय हैं। वैदिक पद्धति की अपेक्षा आगम द्वारा प्रतिपाद्य पद्धति सुलभ तथा सुकर है अतएव आगमोक्त मार्ग की लोकप्रियता अधिक है। भारत वर्ष में ऐसा कोई ग्राम न मिलेगा जहां शिव–लिङ्ग एवं जगज्जननी अम्बा की स्थापना न हो।

विषय प्रतिपादन की दृष्टि से भी आगमिक पद्धति सरल है। वेदान्त साहित्य तर्क की ग्रन्थियों में उलझा है जब कि आगम शास्त्र सरल परिभाषाओं के द्वारा रहस्यार्थ का उद्घाटन करता है। तान्त्रिक साधक अन्तर्तम में प्रविष्ट होकर प्रकृति एवं आत्मा के गूढतम रहस्यों के अनुसंधान में व्यस्त रहता है। आगम शास्त्र गुप्त मार्ग को प्रकाशित करता है एवं पग पग पर सत् पन्थ को निर्दिष्ट कर साधक को विश्वमय एवं विश्वोत्तीर्ण ब्रह्म से साक्षात्कार कराता है। अन्य शास्त्र केवल विनोद मात्र हैं, तथा इस संसार का कुछ भी प्रत्यक्ष कराने में समर्थ नहीं हैं। यह केवल तन्त्र चिकित्सा एवं ज्योतिष शास्त्र ही हैं जो प्रत्येक पद पर अपनी प्रत्यक्षता का परिचय देते हैं। कहा है—

"अन्यान्य शास्त्रेषु विनोद मात्रं
न तेषु किञ्चिद् भुवि दृष्टमस्ति।
चिकित्सित ज्योतिष तन्त्रवादाः
पदे पदे प्रत्ययमावहन्ति"॥

तन्त्र शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित श्री आर्थर एवलन महोदय के **Principles of Tantra** नामक ग्रन्थ की भूमिका में श्री मजूमदार ने स्वीकार किया है कि तन्त्र द्वारा प्रतिपादित चिकित्सा पद्धति आयुर्वेद से भी श्रेष्ठ है, इसकी ज्योतिष एवं नक्षत्र विद्या अन्य पद्धतियों से अधिक शोधपूर्ण है। पारद, सर्प-विष, एवं अन्य धातुओं का सर्व प्रथम

औषधि के रूप में तान्त्रिकों ने ही प्रयोग किया तथा रसायन शास्त्र के अनेक प्रयोगों को युगों पूर्व खोज निकाला, तथा धातु-शोधन के अनेक तान्त्रिक प्रयोगों ने समुद्र पार कर शताब्दियों पूर्व योरप में प्रवेश किया। इन सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है तन्त्र द्वारा प्रतिपादित प्राण-विद्या जो आज भी समस्त सभ्य संसार के लिये रहस्य बनी हुई है। प्राण–विद्या का ही अपर नाम नादानुसंधान अथवा भैरव–विज्ञान है, जिसकी किञ्चित् झलक पाठकों को यहां देखने को मिलेगी।

——:०:——

आगम के भेद

शिवार्क–मणि–दीपिका नामक ग्रन्थ में अप्पय दीक्षित ने आगम शास्त्र को वैदिक एवं तान्त्रिक दो भागों में विभाजित किया है। यह प्रसिद्ध है कि कतिपय तन्त्र अवैदिक हैं। जिन तन्त्रों में जगत् के विनाश, मारण, उच्चाटन, माया-प्रपञ्च–निर्माण, संमोहन, काम–सिद्धान्त, वामाचार, हिंसा आदि का प्रतिपादन है वह तन्त्र अवैदिक कहे गये हैं। इस कसौटी पर कसने से जो अवैदिक सिद्ध होते हैं वे तन्त्र ग्राह्य नहीं हैं। अतएव सौन्दर्य लहरी के टीका-कार श्री लक्ष्मीधर ने **"चतुष्षष्टया तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनं"**—श्लोक की टीका में महामाया शम्बरं, योगिनीजाल शम्बरं, भैरवाष्टकं, बहुरूपाष्टकं, यामलाष्टकं, मालिनी-विद्या, महासंमोहन वातूल तन्त्र एवं कापालिक आदि तन्त्रों को अवैदिक प्रतिपादित किया है। इन तन्त्रों का ध्येय केवल सकाम साधना प्रतीत होता है। श्री भर्तृहरि ने भी ऐसे ही काम दग्ध तान्त्रिक साधकों को उद्देश्य कर लिखा है—

"स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य परमां, सर्वार्थ सम्पत्करीं,
ये मूढाः प्रविहाय यान्ति कुधियो स्वर्गादि लोभेच्छया।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृता मुण्डिताः,
केचित्पञ्चशिखी कृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥"

यहां इस संसार में सहज ही उपलब्ध, मकरध्वज की परम–मुद्रा, सर्वार्थ–सम्पत्करी, सुन्दरी का परित्याग कर जो साधक, अप्सराओं, देवाङ्गनाओं, अथवा हूरों के प्रलोभन से स्वर्ग–लोक की कामना करते हैं वे उसी मकरध्वज कामदेव के निर्दय प्रहारों से आहत होकर नग्न अवस्था में पंचाग्नि का सेवन करते हैं, मुण्डित अथवा जटिल केशों को धारण कर कापालिकों के वेश में भ्रमण करते हुए देखे जाते हैं। यहां

इस संसार में एक बोतल शराब से परहेज करने वाले वहिस्त में कौसर अर्थात् मदिरा की नादियां तलाश करते देखे जाते हैं। इन तन्त्रों से परे निर्धारित महाशक्ति त्रिपुरेश्वरी का स्थान है। इस प्रकार कतिपय तन्त्रों की जो विवेचना की गई है वह यद्यपि समीचीन प्रतीत होती है तथापि यह सर्वमान्य है कि तन्त्रों का प्रादुर्भाव स्वयं भगवान शिव के मुख से हुआ है अतएव शास्त्र के विरुद्ध इस प्रकार का दोषारोपण उचित नहीं हैं। श्रुति कहती है **"अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद"** अर्थात् जिस प्रकार ऋग्वेद आदि को उस महाभूत विश्वप्राण का निश्वास होने से पवित्र स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार आगम शास्त्र को भी शिव के मुख से विनिर्गत होने से परम पावन कहा गया है। कहा है—

"आगतं शिववक्त्राब्जाद्गतं तु गिरिजा श्रुतौ।
वदागम इति प्रोक्तं शास्त्रं परमपावनम्"॥

आनन्द लहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर का कथन है कि इस सम्बन्ध में वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि भगवान शिव ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—चारों वर्णों के लिये एवं सभी प्रकार की प्रवृत्ति के साधकों के लिये मोक्ष का मार्ग खोल दिया है अतएव ब्राह्मण आदि वर्णों के लिये सव्य मार्गीय तन्त्रों का विधान है एवं शूद्र अर्थात् संकुचित वृत्ति के साधकों के लिये अपसव्य अथवा वामाचार का उपदेश किया गया है। सभी प्रकार की रुचि अथवा वृत्ति के साधकों के लिये एक समान साधना सिद्धिप्रद नहीं हो सकती हैं अतएव शिव महिम्न में भी कहा है—

"रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजुकुटिल नानापथ जुषां।"
नृणामेको गम्यः त्वमसि पयसामर्णव इव॥"

अन्ततो गत्वा तान्त्रिक पन्थों में एक पर—ब्रह्म, पर—शिव—अथवा पर-भैरव को ही प्रापनीय प्रतिपादित किया है। यह मार्ग पूर्णरूपेण प्रबुद्ध मार्ग है।

इस मार्ग में प्रवेश करने से पूर्व गुरु शिष्य की परीक्षा करता है। एक मार्ग में अभिषिक्त पर–तत्त्वज्ञ गुरु को भी दूसरे मार्ग में प्रवेश करते समय संस्कार ग्रहण करना आवश्यक होता है। जैसे सम्प्रदाय विशेष के अनुसार वाम मार्ग में अभिषिक्त गुरु संस्कार ग्रहण किये बिना भैरवमार्ग में प्रविष्ट नहीं हो सकता, उसी प्रकार भैरव मार्ग में अभिषिक्त गुरु को भी कुल मार्ग में प्रवेश प्राप्ति के लिये संस्कार ग्रहण करना पडता है। यद्यपि कुल मार्ग में संस्कृत गुरु कौल मार्ग में संस्कार योग्य समझे जाते हैं किन्तु कौल मार्ग में अभिषिक्त गुरु को त्रिक मार्ग में प्रवेश करने के हेतु यथा योग्य संस्कार ग्रहण करने पड़ते हैं। कहा है–

वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्॥
वाममार्गाभिषिक्तोऽपि देशिकः परतत्त्ववित्।
संस्कार्यो भैरवे सोऽपि कुले कौले त्रिकेऽपि सः॥

प्रत्यभिज्ञा हृदय में कौल मत एवं तन्त्र मत से त्रिक मत को श्रेष्ठ माना गया है। कौल मत में आत्मा को विश्वरूप मानते हैं, तन्त्र मत में विश्वातीत परन्तु त्रिक मत में आत्मा को युगपत् विश्वरूप एवं विश्वातीत मान्य किया गया है। कहा है–

विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां प्रकाशामर्शरूपिणीं।
परापरमयीं देवीमात्मत्वेन विशाम्यहम्॥
विश्वातीतं तथा विश्वमेकमेव विराजते।
संयोगेन सदा यस्तु सिद्धयोगी भवेत्तु सः॥

इस प्रकार तान्त्रिक साधना में श्रेणियां हैं तथा साधक की सात्विक, राजस तथा तामस वृत्तियों के अनुसार दीक्षा में अधिकार एवं योग्यता का निर्धारण किया जाता है अतएव साधक की अपेक्षा से तन्त्रों का स्वरूप भी भिन्न भिन्न प्रकार का है। मद्य, मांस आदि की विधि एवं निषेध का आधार भी यही सिद्धान्त है।

वसिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन, सनत्कुमार पांच मुनियों के द्वारा सम्पादित शुभागम मार्ग जो समयाचार नाम से प्रचलित है, पूर्णतया वैदिक ज्ञानमार्ग है (शुभागम अब उपलब्ध नहीं है) वर्तमान में वेदान्त एवं आगमिक मार्गों द्वारा समयाचार को ही सर्व श्रेष्ठ मान्य किया गया है। श्रीमदाचार्य शङ्कर ने अपने सौन्दर्य लहरी नामक ग्रन्थ में तथा उनके परम गुरु गौडपादाचार्य ने सुभगोदय नामक ग्रन्थ में समयाचार का ही समर्थन किया है। काश्मीरी त्रिक सिद्धान्त भी समयाचार का समर्थक है।

यद्यपि समयाचार एवं कौल आचार का विधान, साधन, सामग्री एवं उपलब्धियां पृथक् पृथक् हैं, तथापि लक्ष्य एक है। समयाचार प्राण का आन्तरिक साधन है, जिस में साधक के मूलाधार में स्थित प्राण वायु, जिसको कुण्डलिनी, भुजङ्गिनी, आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है, मूलाधार से ऊपर उठ कर ब्रह्म रन्ध्र में स्थित शिव के साथ एकाकार हो जाती है जिससे विश्व एवं आत्मा की विश्वात्मक भावना का लय हो जाता है एवं प्राण–शक्ति शिव के अन्तः में लीन हो जाती है। व्युत्थान दशा में भी साधक को विश्व शिवरूप दृष्टिगोचर होने लगता है।

कौलाचार की साधना बाह्य साधना है। कौल मूलाधार स्थित कुण्डलिनी का ही पूजन करते हैं। उनकी दृष्टि में कुण्डलिनी का मूलाधार से ऊपर उठ जाना ही मोक्ष है। कौलों की साधना में अत्यन्त कठोर अनुशासन का विधान है। इस में साधक की वास्तविक परीक्षा होती है। कहा है कि जहां मद्य, मांस, एवं मद से अरुण नेत्र वाली तरुणियों का जमघट हो वहां चित्त को एकाग्र रख सकना दुष्कर है। मन में विकार उत्पादक एवं मोहक सामग्री के मध्य में स्थित रहकर भी जिसका चित्त विचलित नहीं होता है वही साधक शक्ति का सच्चा उपासक एवं कुल योगी कहे जाने के योग्य है। जैसा कि कहा है–

"इतो मद्यमितो मांसं भक्ष्यमुच्चावचं तथा,
तारुण्याश्चारु वेशाढ्या मदारुण विलोचनाः।

तत्र संयत चित्तत्त्वं सर्वथा ह्यति दुष्करम्,
भक्ति श्रद्धा विहीनस्य कथं स्यादेतदीश्वरि।"

इसी प्रकार वातुलनाथ सूत्रों में भी कहा है–

"येनेह सर्ववृत्तीनां मध्यसंस्थोऽपि सर्वदा।
महा व्योम समाविष्ट: तिष्ठाम्यस्मिन्निराविल: ॥

——:०:——

अन्तिम-सत्य

वेदान्त ब्रह्म प्रतिपादक है। वेदान्त वाक्यों की प्रवृत्ति द्वैत एवं अद्वैत दोनों रूपों में देखी जाती है अतएव द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अनेक मतों की वेदान्त के अन्तर्गत कल्पना की गई है। द्वैतवादी मुण्डकश्रुति में **"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिसष्वजाते"** आदि श्रुतियों के द्वारा जीव, ईश्वर, एवं प्रकृति तत्त्वों को ग्रहण कर भेद को नित्य प्रतिपादित करते हैं। अन्य वेदान्ती **"एकमेवाद्वितीयम्"**, **"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"** इत्यादि श्रुति वाक्यों से अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं। अद्वैत वेदान्ती श्रुतिगत द्वैत वचनों को गौण मानते हैं कोई द्वैताद्वैत समर्थक वेदान्ती ब्रह्म जीव एवं जगत में स्वाभाविक भेद–भिन्नता का निरूपण करते हैं। विशिष्टाद्वैत वादी ब्रह्म तत्त्व को जीव एवं प्रकृति से विशिष्ट मान्य करते हैं। इस प्रकार विभिन्न मत भेदों का समवाय वेदान्त साहित्य में उपलब्ध है।

द्वैत स्वतः सिद्ध है। सामान्यतया सब के अनुभव का विषय है अतएव अद्वैत वादी कहते हैं कि जो स्वतः सिद्ध है उस की सिद्धि के हेतु शास्त्र को कोई आवश्यकता नहीं है। शास्त्र अज्ञात अर्थ का ज्ञापक है अतएव स्वतः प्रत्यक्षतः ज्ञात द्वैत को सिद्ध करना शास्त्र का प्रयोजन नहीं कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त **"नेह नानास्ति किञ्चन"**, **"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"** आदि श्रुति वचनों से अद्वैत की प्रशंसा की गई है। तथा **"द्वितीयाद् वै भयं भवति"**, **"यदल्पं तन्मर्त्यम्"** **"योऽन्यां देवतामुपास्ते.....असौ पशुः स देवानाम्"** आदि वचनों से द्वैत की निन्दा की गई है। तथा इसके विपरीत अद्वैत की निन्दा श्रुति में कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं। अत एव यह स्पष्ट हो जाता है कि अद्वैत के प्रतिपादन में ही श्रुति का तात्पर्य है। श्रुति में ब्रह्म को अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अनादि, अनन्त घोषित किया है

उसको जान लेने पर साधक मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है अर्थात् जीवित अवस्था में ही देहात्मभाव से रहित हो जाता है। कहा है–

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते"॥
(कठश्रुति)

यद्यपि ब्रह्माद्वैत तत्त्व नाम तथा रूप से अतीत है, मन वाणी से अगोचर है तथापि निगम, आगम, पुराण, तन्त्र आदि शास्त्रों में उसको अनेक नामों से तथा अनेक रूपों में प्रतिपादित किया है। तत्त्व केवल एक है किन्तु उसके नाम तथा रूप अनेक हैं। कैवल्य श्रुति कहती है–

"स ब्रह्मा स शिवः स हरिः
सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः
स कालाग्निः च चन्द्रमा"॥

इसी प्रकार प्रत्यक्षोपनिषद् में कहा है–

"यत्परं ब्रह्म स एको रुद्रः, स ईशानः,
स भगवान् महेश्वरः, स महादेवः"।

वही अद्वैत ब्रह्म तत्व शिव, हरि, इन्द्र, विष्णु, प्राण, कालाग्नि, चन्द्रमा नामों से सम्बोधित है तथा उसी का रुद्र, ईशान, महेश्वर, महादेव आदि नामों से व्यवहार किया जाता है।

वही ब्रह्म भैरव नाम तथा भैरव रूप से आगम एवं तन्त्र शास्त्रों में प्रतिपादित किया गया है। यथा–

"स एव भैरवो देवो जगद्भरण लक्षणः" ।

वही ब्रह्म सृष्टि के समय समस्त विश्व के रूप में स्वयं को अवतरित करता है। जो परमेश्वर आदि नामों से व्यवहृत होता है। कहा है– **"स एव सर्वभूतानां स्वभावः परमेश्वरः ।"** तथा **"चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छा वशाद्बहिः"** अन्तःस्थित चिदात्म भैरव देव ही स्वयं की इच्छा से विश्व के रूप में वाहर प्रकट होते हैं तथा स्वेच्छा से ही जगत् की सृष्टि एवं लय करते हैं। **"स्वेच्छयैव जगत्सर्वं निगरत्युद्गिरत्यपि"** । श्रुति भी प्रतिपादन करती है "यथोर्ण नाभिः सृजते गृह्यते च" अर्थात् जिस प्रकार मकड़ी स्वयं अपने अन्तः से जाल का सृजन करती है तथा स्वयं उसको निगल जाती है, उसी प्रकार ब्रह्म से जगत् की सृष्टि होती है तथा ब्रह्म में ही लय हो जाता है। श्रुति कहती है **"स ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति"** वही एक अपनी इच्छा से बहुरूपों में प्रकट होता है। **"एकोऽहं बहुस्यां"** । इसी प्रकार तैत्तिरीय श्रुति में **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति"** से प्रारम्भ कर **"आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, इदं सर्वं यदयमात्मैव"** पर्यन्त प्रतिपादन किया है कि आनन्द से ही प्राणियों की उत्पत्ति होती है तथा आनन्द में ही लय हो जाता है। यह सब आत्मा ही है। अर्थात् उपक्रम एवं उपसंहार से श्रुति में प्रतिपादित किया गया है कि नित्य शुद्ध बुद्ध स्वभाव ब्रह्म ही स्वयं की लीला रूप, अनादि अनिर्वाच्य, अविद्या की सहायता से सम्पन्न आनन्द स्वरूप से स्वात्म के विवर्त–स्वरूप सकल जगत् की सृष्टि करता है।

श्रुति के इस निर्वचन को स्वीकार करने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती है कि ब्रह्म जगत् का स्रष्टा है किन्तु अनादि अविद्या को अङ्गीकार करने में विपक्षी को आपत्ति है। कारण यह कि इस प्रकार अविद्या को पृथक से स्वीकार करने पर अद्वैत पक्ष की हानि हो जाने की संभावना है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहता है कि श्रुति पुरुष को

असङ्ग प्रतिपादित करती है **"असङ्गो ह्ययं पुरुषः"।** इस असङ्ग पुरुष से जगत् की सृष्टि का प्रतिपादन अनुपपन्न है अतः श्रुति कहती है **"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।"** इसके अतिरिक्त यद्यपि श्रुति असङ्ग पुरुष के सर्व कर्तृत्व का निषेध भी करती है तथापि ब्रह्म की शक्ति का निर्वचन किया है—

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते,
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च विद्यते।
परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"॥

यद्यपि ब्रह्म के कार्य एवं करण का निषेध है अर्थात् वह शरीर एवं इन्द्रियों से रहित है तथापि उसके समान अथवा उस से श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है। उसके स्वभाव से उद्भूत इच्छा, ज्ञान, क्रिया से युक्त परा नामक शक्ति का श्रुति निर्वचन करती है।

आगम शास्त्र भी शक्ति का प्रतिपादन करता है। यथा **"शिवो हि शक्ति रहितः शक्तः कर्तुं न किंचन"।** श्री मद् शङ्कराचार्य ने भी आनन्द लहरी में कहा है—

"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥"

शक्ति से युक्त शिव ही जगत् की सृष्टि करने में समर्थ हैं, बिना शक्ति के शिव का स्पन्दन भी सम्भव नहीं है। प्रलयङ्कारी शिव के ताण्डव के समय भी वही एक अभिन्न शक्ति साक्षिणी के रूप में शेष रहती है। **"सा साक्षिणी विजयते तव मूर्तिरेका"** शक्ति के सान्निध्य से ही शिव की सत्ता का प्रतिपादन श्रुति एवं आगम शास्त्र करने में समर्थ हैं। केवल ईश्वर में सर्व कर्तृत्व को सिद्ध प्रतिपादन नहीं किया

जा सकता है। अतएव अन्तिम तत्त्व को शिव-शक्ति का एकीकृत रूप निरूपित किया है तथा विश्व का कारण भी शिव-शक्ति को ही माना है। कहा है—

"शिव-शक्तिरिति ह्येकं तत्त्वमाहुः मनीषिणः"।

यदि शिव-शक्ति को पृथक पृथक तत्त्व स्वीकार किया जावे तब श्रुति का विरोध हो जावेगा। श्रुति कहती है **"सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"**। अतएव शिव-शक्ति को चन्द्र एवं चन्द्रिका के समान अभेद प्रतिपादित किया है— यथा—

**"न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः॥
नानयोरन्तरं किञ्चिच्चन्द्र चन्द्रिकयोरिव॥"**

तथा यदि शिव को कारण रूप मान्य किया जाय तब शक्ति को कर्ता तथा शक्ति को कारण रूप मान्य करने पर शिव को कर्ता मान्य करना होगा। जैसा कि स्वच्छन्द शास्त्र में कहा है :—

**"तत्त्वारूढः न भगवान शिवः परमकारणम्।
शिवः सर्वस्य कर्तेयं शक्तिः कारणमुच्यते॥"**

शिव-शक्ति के अभिन्नत्व को ही कलाकार ने अर्धनारी नटेश्वर के रूप में चित्रित किया है। वेदान्त शास्त्र में कर्ता एवं करण के समुच्चय को ही अभिन्न–निमित्तोपादान कारण कहा गया है। इस प्रकार विश्व का कारण वस्तुतः शिव एवं शक्ति का अभिन्न स्वरूप है जिसको आगम शास्त्र में पर शिव के नाम से व्यवहृत किया जाता है। शिव ही भैरव हैं, कहा भी हैं **"गुरु चरणरतोऽहं भैरवोऽहं शिवोऽहं"** तथा वेदान्त में भी अहं तथा ब्रह्म के अभिन्न रूप को पर– ब्रह्म कहा गया है। इस प्रकार वेदान्त एवं आगम में अन्तिम सत्य के सम्बन्ध में

कोई भेद नहीं है केवल नाम का भेद है ऐसा शारदा–तिलक के टीका-कार का मत है। "अस्माभिः परम–शिव इत्युच्यते, तैस्तु ब्रह्मे-त्युच्यते इति शब्दमात्रेण परम भेदः। वस्तुतस्तु नित्यानन्दादि स्वरूपत्वं तैरप्यस्माभिरप्यङ्गी क्रियते"॥

——:०:——

ब्रह्म – निरूपण

ब्रह्म का निरूपण करते हुए महानिर्वाण तन्त्र कहता है कि उसके भय से वायु प्रवाहित हो रही है, सूर्य उसके भय से तपता है तथा मेघ यथा-समय वृष्टि करते हैं। जो प्रलय के समय काल को भी निमेष मात्र में ग्रस लेता है, जो मृत्यु तथा भय का भी भय है, तथा जो वेदान्त में तत् शब्द से उपलक्षित है वह देवों का भी देव है।

आब्रह्म स्तम्भ पर्यन्त सकल जगत् ब्रह्ममय है, अतएव उसके परितुष्ट होने पर जगत् परितुष्ट होता है। जिस प्रकार वृक्ष की मूल को सींचने से उसकी शाखाएँ एवं पत्र की अभिवृद्धि स्वयं ही हो जाती है उसी प्रकार ब्रह्म परमेश्वर की आराधना से समस्त देवता गण तथा जगत् तृप्त हो जाता है। कहा है :—

"यद्भयाद्वाति वातोऽपि सूर्यस्तपति यद्भयात् ।
वर्षन्ति तोयदाः काले पुष्पन्ति तरवो वने ।।
कालं कालयते काले मृत्योर्मृत्युर्भियोर्भयम् ।
वेदान्त वेद्यो भगवान यत्तच्छब्देन लक्षितः ।।
सर्वे देवाश्च देव्यश्च तन्मयाः सुरवन्दिते ।
आब्रह्मस्तम्भपर्यन्तं तन्मयं सकलं जगत् ।।
तस्मिन्स्तुष्टे जगत्तुष्टं प्रीणिते प्रीणितं जगत् ।
तदाराधनतो देवी सर्वेषां प्रीणनं भवेत् ।।
तरोर्मूलाभिषेकेण यथा तद्भुज पल्लवाः ।
तृप्यन्ति तदनुष्ठानात्तथा सर्वेऽमरादयः ।।"

जिस प्रकार नदी विवश होकर समुद्र में प्रवेश करती है उसी प्रकार पूजा ध्यान आदि समस्त आराधना उस ब्रह्म में पहुंच जाती है तथा उसी ब्रह्म से यथाराधन फल-प्राप्ति होती है।

पार्वती जी ने भगवान सदाशिव से उस ब्रह्म को प्राप्त करने का साधन पूंछा तब सदाशिव ने उत्तर दिया कि हे महेश्वरि सत्-चित् विश्वात्मा, मन वाणी से अगोचर सत्ता मात्र पर-ब्रह्म को स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ लक्षण से जाना जाता है; तथा द्वन्द्वातीत, निर्विकार, निर्विकल्प, देहात्म अध्यास से वर्जित, सर्वत्र सम दृष्टा योगी गण उस ब्रह्म के स्वरूप को समाधि योग से प्रत्यक्ष करते हैं। श्रुति भी प्रतिपादित करती है कि वह ब्रह्म अन्य प्रमाणों से जानने योग्य नहीं है:—कहा है:—

"न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनं"।

"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा"

"नावेद विन्मनुते तं वृहन्तं। नैषा तर्केण मतिरापनीया"।

ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान चक्षु वाचा अथवा तर्क से ग्राह्य नहीं है।

—:०:—

भैरवत्त्व

तन्त्र शास्त्र की मान्यता है कि स्वयं सदाशिब ने ही गुरु एवं शिष्य उभय पदों पर स्थित होकर प्रश्नोत्तर वाक्यों के द्वारा तन्त्र का अवतरण किया:—

**"गुरु शिष्य पदे स्थित्वा स्वयं देवो महेश्वरः ।
प्रश्नोत्तर पदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ।।"**

भगवान भैरव स्वयं परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी रूप में व्यापृत् होकर विमर्शांश से प्रश्नकर्ता हैं तथा प्रकाशांश से प्रत्युत्तर दाता हैं।

विश्व का भरण, रमण तथा वमन कर्ता भगवान भैरव हैं अर्थात् भैरव को जगत् का सृष्टि, स्थिति, संहारकारी प्रतिपादित किया गया है। भगवान भैरव महादेव इस लिये कहे जाते हैं कि वे महा प्रकाशात्मा हैं। देव शब्द का अर्थ है द्योतनशील। महाप्रकाशक होने से भगवान भैरव से ही विश्व का भास होता है तथा उनको भासित करने वाला अन्य कोई नहीं है। श्रुति भी कहती है **"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा बिद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"** अर्थात् न वहां सूर्य में प्रकाश करने का सामर्थ्य है न ही वहाँ चन्द्र एवं तारागणों का भास होता है तथा विद्युत एवं अग्नि को प्रकाश करने की शक्ति ही कहां है। बिश्व का संहारक होने से भैरव का अर्थ भयङ्कर भी है। उसके द्वारा समस्त विश्व का नियन्त्रण होता है। श्रुति कहती है **"भीषाऽस्माद्वातः पवते"** अर्थात् इसके डर से वायु का स्पन्दन होता है **"महद्भयं वज्रमुद्यतं"** आदि श्रुतियों के द्वारा भैरव का भयङ्करत्व श्रुति द्वारा प्रतिपादित किया गया है। कतिपय विद्वानों का मत है कि भैरवशब्द वेदों में उपलब्ध नहीं है अतः इनको वैदिक देवता नहीं कहा जा सकता। यद्यपि कुछ हद्द तक यह सत्य है तथापि भैरव के लक्षण श्रुतियों में अवश्य ही उपलब्ध हैं। वेदान्त सूत्र के कम्पना-

धिकरण में भी भयङ्करत्व को परब्रह्म के लिङ्ग अर्थात् प्रतीक के रूप में निरूपित किया है। (लिङ्ग शब्द का अर्थ है "**लीनं अर्थं गमयति**" अर्थात् जिसके द्वारा गुप्त अर्थ प्रकाशित है।)

कठोपनिषत् में भयङ्करत्व का निरूपण निम्न श्रुतियों में उपलब्ध है :—

"यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरामृतास्ते भवन्ति ॥
भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥"

अर्थात् यह जो कुछ जगत् रूप है वह सब प्राण अर्थात् परब्रह्म में कम्पित (स्पन्दित) होता है, उसी से निःसृत है, तथा उस में ही नियम से प्रचलित होता है। जिस प्रकार स्वामी को हाथ में वज्र धारण किये हुए देख कर भृत्य गण उसके शासन में रह कर नियम का पालन करते हैं उसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि विना विश्राम किये उसके भय से सतत कार्य में संलग्न रहते हैं। जो इस प्रकार जानता है वह अमृतत्व प्राप्त करता है। श्रुति के इन मन्त्रों का प्रतिपादन करने के हेतु वेदान्त सूत्र में "**कम्पनात्**" सूत्र का समावेश किया गया है।

गुरुवर श्री स्वामी जी महाराज ने कठ श्रुति के प्रकाश भाष्य में उपर्युक्त मन्त्रों को भैरव भाव का प्रतिपादक निरूपित किया है। भयादस्य से प्रारम्भ होने वाले मन्त्र के भाष्य की अन्तिम पङ्क्ति में गुरु देव ने लिखा है "**मन्त्रद्वयेन भैरवं भावं प्रतिपादितवान् इति निष्कर्षः**"॥

शिव सूत्र के वार्तिककार ने पूर्णाहं भावनात्मक स्पन्द को उद्यम के रूप में प्रतिपादित किया है उसका तात्पर्य प्राण अर्थात् ब्रह्म के स्पन्दन से ही है। "अहं ब्रह्मास्मि" "**भैरवोऽहं**" "**शिवोऽहं**" वाक्यों में जो यह अहं तत्त्व है वह भैरव से अभिन्न है।

——:o:——

अहं -- निरूपण

आगम शास्त्र में यह जो चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूपा परा शक्ति महा त्रिपुर सुन्दरी नाम से प्रसिद्ध है वह शिव-शक्ति के सामरस्य के रूप में प्रतिपादित है। जिस प्रकार बीज से अङ्कुर तथा अङ्कुर से बीज की उत्पत्ति कही जाती है उसी प्रकार शिव-शक्ति के सामरस्य रूप से शिव तत्त्व से क्षिति पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों का आविर्भाव होता है। शिव शब्द से तात्पर्य है ज्ञान शक्ति, कारण यह है कि शिव तत्त्व ज्ञान शक्ति में अधिष्ठित है। शक्ति शब्द से तात्पर्य है क्रिया-शक्ति। कारण यह कि शक्ति-तत्त्व क्रिया शक्ति में अधिष्ठित है। चिदानन्द स्वरूपिणी शक्ति सर्वत्र ज्ञान-क्रिया से ही प्रपञ्च की सृष्टि करती है। जैसा कि श्रुति में प्रतिपादन किया गया है :— **"यदिदं ते दृश्यते तदानन्द योनिः तेन जीवति, तदेषाभ्युक्ता परो वा एष आनन्दः स भोगयोनिः कामरूपावेतौ स आनन्द योनिः, आनन्दो ब्रह्म ब्रह्मैवैषा देवी एकानेकप्रपञ्चा स्यात् चतुर्थ पौरुषार्थे आनन्दरूपा"** इति।

अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म है तथा ब्रह्म ही देवी है जो अनेकों-प्रपञ्च का निर्माण करती है। कहा है— **"सैव योनिः सर्व देवानां शक्तीनां च"**। वह परा शक्ति स्वयं शिव-शक्ति रूप होकर विश्व का सृजन करती है।

काम कला विलास में कहा है **"अनुत्तर विमर्श लिपि लक्ष्यविग्रहा"** अर्थात् परा शक्ति का विग्रह अनुत्तर अर्थात अकार एवं विमर्श अर्थात् हकार से संयुक्त है। तात्पर्य यह कि अहं के अन्तर्गत अकार से हकार पर्यन्त पचास वर्णों से युक्त समस्त वर्णमाला गर्भित है। अतएव सिद्धान्ततः कहा है कि अहं के आकार में सम्पूर्ण वर्णमाला व्यवस्थित है। जैसा कि ऊपर प्रतिपादित किया गया है **"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मान-मेवावेत्। अहं ब्रह्मास्मीति"**। ऐतरेय उपनिषत् में कहा है **"अ इति**

ब्रह्म तत्रागतमहम् " अर्थात् अकारब्रह्म है जहां से अहं की उत्पत्ति हुई है। वर्णमाला का प्रथम अक्षर अकार एवं अन्तिम अक्षर हकार के प्रत्याहार से अहं शब्द के स्वरूप की रचना कही गई है। अकार शिव का वाचक है, हकार शक्ति का वाचक है इस प्रकार शिव-शक्ति के सामरस्य से अहं का स्फुरण हुआ है। कहा है :—

"अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः।
हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः॥
उभयोः सामरस्यं यत्परस्मिन्नहमि स्फुटम्॥"

पूर्ण अहं भाव से भावित ब्रह्म की उपासना का प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है- छान्दोग्य उपनिषत् में कहा है **"तदैक्षत,"** **"सेयं देवतैक्षत्"** तथा **"अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहं उत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति"**। अर्थात् नीचे ऊपर, आगे, पीछे, दक्षिण, एवं उत्तर में सर्वत्र अहं का ही प्रसार है अर्थात् शिव-शक्ति के स्वरूप का विस्तार है। वृहदारण्यक में भी कहा है **"त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतैतासां वै त्वमसि भगवो देवता"**॥ अर्थात् अहं देवता का स्वरूप है तथा देव अहं का स्वरूप है।

शिवरूप प्रकाश समस्त विश्व का प्रकाशक है अतएव उस प्रकाश को ही अहं कहा गया है क्यों कि उस से ही आत्मा एवं परा शक्ति प्रकाशित ह। कहा है—

"स्व परावभासन क्षम आत्मा विश्वस्य यः प्रकाशोऽसौ।
अहमिति स एक उक्तोऽहं ता स्थितिरीदृशी तस्य॥"

हकार द्वारा अभिव्यक्त शक्ति का विमर्श नाम से निर्वचन किया है काम कला बिलास में विमर्श का लक्षण करते हुए उस को **"अनवधिकाकार विस्फुरण शक्ति;"**— अर्थात् असीम स्फुरण शक्ति कहा

गया है। विमर्श का स्फुरण चित्त रूप कुडय में होता है। इसको महा विन्दु नाम से निरूपित किया है। जिस प्रकार सूर्य के अभिमुख रखे हुए दर्पण के धरातल पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं तब निकट तम कुडय में सूर्य की किरणों से प्रतिहत तेज बिन्दु प्रत्यक्ष दिखलाई देता है। उसी के समान प्रकाश रूप परमेश्वर का, दर्पण के समान, अपने विमर्श-स्वरूप का सम्बन्ध होने पर चित्त के अन्तर्गत महा-बिन्दु अर्थात् पूर्णाहन्ता रूप परमेश्वर का अवभास होता है। जैसा कि **"सदेव सोम्येदमग्र आसीत । एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।" "तदैक्षत";** **"सेयं देवतैक्षत"** तथा **"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेव वेद, अहं ब्रह्मास्मीति"** इत्यादि श्रुतियों में निर्वचन किया गया है। तात्पर्य यह है कि स्वात्म-शक्ति के निरीक्षण के हेतु अभिमुख ब्रह्म ही जगत् का कारण है। वही पूर्णाहं भाव है जिसका निरूपण शिव सूत्र के वार्तिक-कार ने **"उद्यमो अन्तः परिस्यन्दः पूर्णाहं भावनात्मकः"** में निरूपित किया है। अर्थात् यह पूर्णाहं भावनात्मक परिस्पन्द ही उद्यम है जो समस्त ज्ञानात्मक विकल्प सृष्टि एवं शाक्त सृष्टि को आत्मसात् कर लेने के कारण भैरव अर्थात् भयङ्कर के रूप में निरूपित है। भैरव से ही समस्त वर्णात्मक सृष्टि का आविर्भाव होता है तथा भैरव में ही विलय हो जाता है।

——:०:——

ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण

तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण **"सत्यं-ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** शब्दों के द्वारा किया गया है तथा वृहदारण्यक में **"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"** कहा है। ब्रह्म की सत्ता भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में अवाध रूप से विद्यमान रहती है अतएव इसको सत्य कहा गया है। **"सत्यत्वं वाध राहित्यं"** यह सत्ता जड़ नहीं है अपितु चैतन्य बोध रूप है अत: लक्षण के निरूपण में ज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। देश, काल के परिच्छेद से रहित सर्वत्र व्याप्तृत्व सिद्ध करने के हेतु अनन्त शब्द से ब्रह्म को लक्षित किया है। यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। जो लक्षण स्वरूप का बोधक होता हुआ अन्य पदार्थों से भेद स्पष्ट करता है उसको स्वरूप लक्षण कहते हैं। **"स्वरूपं सद् व्यावर्तकम्"** ॥

महा निर्वाण–तन्त्र में ब्रह्म को स्वरूपत: प्राप्त करने के हेतु निर्वाण-मन्त्र का उद्धार किया गया है। **"ओं सच्चिदेकं ब्रह्म"** निर्वाण मन्त्र है जो समस्त मन्त्रों में श्रेष्ठ है तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का दाता है। इस मन्त्र के साधन में तिथि, नक्षत्र, कुल एवं अकुल सम्प्रदायों की दीक्षा, नियम, संस्कार आदि की आवश्यकता नहीं है। यह सर्वथा सिद्धिदायक मन्त्र है। तन्त्र कहता है–

"न तिथिर्नच नक्षत्र, न राशि गणनन्तथा।
कुलाकुलादि नियमो न संस्कारोऽत्रविद्यते॥
सर्वथा सिद्ध मन्त्रोऽयं, नात्र कार्या विचारणा"॥

जन्म जन्मान्तर के सुकृत के फल से यदि सद्‌गुरु से साक्षात्कार हो जावे तब उनके मुख से मन्त्र श्रवण कर जन्म कृतार्थ करना चाहिये। यह निर्वाण मन्त्र परम विश्रान्तिदायक है जिसके जप से साधक सिद्धि प्राप्त

कर ब्रह्म के स्वरूप को साक्षात् कर लेता है एवं ब्रह्म में लीन हो जाता है। तन्त्र में लिखा है कि जो मन्त्र का अर्थ तथा मन्त्र के चैतन्य को नहीं जानता उसको सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। अतः यहां मन्त्र का अर्थ साधकों के हितार्थ लिख रहे हैं।

मन्त्र का अर्थ

अकार का अर्थ है जगत् रक्षक, उकार का अर्थ संहार कर्ता तथा मकार का अर्थ है सृष्टि कर्ता। इस प्रकार यह प्रणव (ओं) का अर्थ है।

सत् शब्द का अर्थ है सदा स्थायी, किंचित् का अर्थ है चैतन्य, एक शब्द से प्रयोजन है द्वैत वर्जित तथा ब्रह्म का अर्थ है वृहत्। मन्त्र के अधिष्ठातृ देवता का ज्ञान हो जाना ही मन्त्र चैतन्य है। कहा है –

"अकारेण जगत्पाता संहर्त्तास्यादुकारतः।"
मकारेण जगत्स्रष्टा प्रणवार्थ उदाहृतः॥
सच्छब्देन सदास्थायि चिच्चैतन्यं प्रकीर्तितं।
एकमद्वैतमीशानि बृहत्त्वादब्रह्म गीयते॥
मन्त्रार्थः कथितो देवि साधकाभीष्ट सिद्धिदः।
मन्त्र चैतन्यमेतत्तु तदधिष्ठातृ देवता।
तज्ज्ञानं परमेशानि भक्तानां सिद्धिदायकम्॥

निर्वाण मन्त्र का जप वस्तुतः ब्रह्म यज्ञ है। ब्रह्म ही पात्र है, ब्रह्म ही हव्य है, अग्नि भी ब्रह्म है, यज्ञ करने वाला भी ब्रह्म है, तथा जो एकाग्र होकर ब्रह्म में चित्त लगाते हैं वह इस जप क्रिया समाधि से ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। कहा है––

"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतं॥
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना"॥

ब्रह्म की उपासना से साधक जिस स्थिति को प्राप्त होता है उसको ही भगवद्गीता में ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करना ही शैव एवं शाक्त मतों का लक्ष्य है। शाक्त, शैव एवं भैरव उपासना में यह मन्त्र सिद्ध है– जिसको प्राप्त कर साधक पुनः मोह से ग्रस्त नहीं होता तथा अन्त समय में ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करता है। ब्रह्मोपासना से जिनके पाप क्षीण हो गये हैं, द्वैत बुद्धि छिन्न हो गई है, तथा जो समदर्शी होने के कारण प्राणीमात्र के कल्याण में रत हैं ऐसे ऋषियों को ब्रह्म निर्वाण की प्राप्ति होती है, तथा जो प्रयत्नशील साधक काम क्रोध से मुक्त हो जाते हैं ऐसे ब्रह्मज्ञानी यती को सर्वतः निर्वाण प्राप्त होता है। गीता में कहा है–

"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥
लभन्ते ब्रह्म निर्वाणं ऋषयः क्षीण कल्मषाः ।
छिन्न द्वैधा यतात्मानः सर्व भूत हिते रताः ॥
काम क्रोध विमुक्तानां यतीनां यत् चेतसाम् ।
अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥"

(गीता ५।२५, २६)

निर्वाण शब्द से अभिप्राय उस अवस्था से है जिस में पहुंच कर पुनः आवागमन नहीं होता है। **"निर्गतं वानं गमनं यस्मिन प्राप्ये ब्रह्मणि तन्निर्वाणम्"** ॥ निर्वाण शब्द की इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से यह अवस्था आवागमन से रहित जीवन मुक्ति अथवा विदेह मुक्ति की अवस्था है। श्रुति कहती है "न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" श्रीधर स्वामी ने गीता की व्याख्या में निर्वाण अवस्था को ब्रह्म में लय अवस्था निरूपित किया है। **"ब्रह्मणि निर्वाणं लयमृच्छति प्राप्नोति"** ॥ इति उपरि वर्णित स्वरूप लक्षण से जो ब्रह्म के स्वरूप की प्राप्ति होती है उसको ज्ञान योग नाम से निरूपित किया जाता है तथा

उसको राजयोग नाम से भी सम्बोधित करते हैं। योग वाशिष्ठ में भी संसार सागर से उत्तीर्ण होने के उपायों में ज्ञान योग एवं क्रिया योग को श्रेष्ठ माना है। यथा–

"संसारोत्तरणे युक्तिः योग शब्देन कथ्यते।
तां विद्धि द्विप्रकारां त्वं चित्तोपशम धर्मिणी॥
आत्म–ज्ञानं प्रकारोऽस्या एकः प्रकटितो भुवि।
द्वितीयः प्राण संरोधः . . . .॥

बौद्ध सम्प्रदाय में भी साधना की अन्तिम स्थिति का निर्वाण नाम से उल्लेख किया गया है। निर्वाण वह अवस्था है जिस में साधक क्लेश से मुक्त हो जाता है, काम, क्रोध, तृष्णा आदि समस्त विकारों का शमन हो जाता है तथा साधक इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस मत के अनुसार निर्वाण पद सत्ता से शून्य एवं प्रतिषेधात्मक है अतः इस को शून्य अवस्था कहा गया है। बौद्ध शून्य वादी कहे जाते हैं। इस सम्बन्ध में श्रीमद् शङ्कराचार्य का कथन है कि भाव वृत्ति से भावत्व अर्थात् सत्ता की प्राप्ति होती है किन्तु शून्य वृत्ति से केवल शून्यत्व ही हाथ लगता है। **"भाववृत्त्या हि भावत्वं, शून्य वृत्त्या हि शून्यता। ब्रह्म–वृत्त्या हि पूर्णत्वं तस्मात् पूर्णत्वमभ्यसेत्"॥** ब्रह्म–वृत्ति से पूर्णत्व की प्राप्ति होती है अतः पूर्णत्व का अभ्यास करना चाहिये। सन्त कवीर ने भी कहा है–

"हद्द छांडि वेहद गया, किया सुन्नि (शून्य) स्नान।
मुनि जन महल न पावई, तहां किये विश्राम॥"

अतः सत्ता रूप पर–ब्रह्म ही निर्वाण पद है– **"तत्परं ब्रह्म विभाति निर्वाणं"॥**

शैव एवं शाक्त तन्त्रों में भी शून्य शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु यहां शून्य का अर्थ है क्लेश से शून्य न कि सत्ता से शून्य। चित्त

की यह शून्यावस्था विकल्प से शून्य होने के कारण निरावरण परमाकाश रूप है किन्तु परमार्थतः शून्य नहीं है। कहा है–

"सर्वालम्बन धर्मैश्च सर्वतत्त्वैरशेषतः।
सर्व क्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः॥"

स्वच्छन्द तन्त्र में परमार्थरूप निर्वाण को रुद्रवक्त्र नाम से सम्बोधित किया गया है। काल, कला–भाव, एवं देवता की यहां गति नहीं है। तन्त्र शास्त्र के अनुसार शिव–शक्ति, शिव एवं शक्ति तीन तत्त्व हैं। शिव–शक्ति का संश्लिष्ट स्वरूप निर्विकल्प, निरञ्जन, तत्त्वातीत, वांङमन से अतीत एवं अद्भुत निरूपित किया गया है। यही पर–भैरव का स्वरूप है। शक्ति का स्वरूप अनिष्कल अर्थात् सकल है तथा शिव तत्त्व निरूप, निर्विकल्प, निर्द्वन्द्व, परम पद है। स्वच्छन्द तन्त्र कहता है–

"नात्र कालः कलाभावो नैकता न च देवता।
सुनिर्वाणं परं शुद्धं रुद्रवक्त्रं तदुच्यते॥
शिव–शक्तिरितिख्यातं निर्विकल्पं निरञ्जनम्।
तत्वातीते वरारोहे वाङमनोतीतमद्भुतम्॥
अनिष्कलं च सकलं, नीरूपं निर्विकल्पकम्।
निर्द्वन्द्वं परमं तत्त्वं शिवाख्यं परमं पदम्"॥

शिव एवं भैरव पर्यायवाची हैं।

——:०:——

ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण

तटस्थ–लक्षण वह है जो वस्तु के स्वरूप से पृथक होता हुआ भी उस वस्तु का बोध कराता है। **"तद्भिन्नत्वे सति तद्बोधकत्वम्"** तटस्थ–लक्षण की परिभाषा है। अथवा **"यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्त्वे सति व्यावर्तकत्वम्"**। जिस प्रकार छत्र चामर आदि राजा के अभिन्न अङ्ग नहीं होते हैं तथापि इन से राजा का बोध होता है, इसी प्रकार यद्यपि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय ब्रह्म के स्वरूप का अभिन्न अङ्ग नहीं है तथापि बेदान्त में **"जन्माद्यस्य यतः"** सूत्र के द्वारा जन्म आदि को ब्रह्म का लक्षण निरूपित किया है। यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। तैत्तिरीय उपनिषद् में श्रुति कहती है **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्च तद्ब्रह्मेति"** अर्थात् जिस से जगत् की उत्पत्ति होती है, जिस में स्थिति है एवं जिस में लय हो जाता है उसको जानो। वही ब्रह्म है।

एक अद्वैत सद्रूप ब्रह्म (भैरव) यद्यपि निर्विकार, निराधार, निर्विशेष एवं गुणातीत प्रतिपादित किया गया है तथापि सर्वात्मा होने से वह सब का साक्षी है, तथा गूढ भाव से सब में व्याप्त है। सब इन्द्रियों से विवर्जित होते हुए भी उसमें समस्त इन्द्रियों के गुणों का आभास होता है। वह लोकातीत होते हुए भी लोकों का हेतु है। वह स्वयं मन वाणी से अगोचर होते हुए भी समस्त विश्व का वेत्ता है, सर्वज्ञ है। त्रैलोक्य सचराचर जगत् उसके ही आधीन है तथा उसके आलम्बन से स्थित है। नाना रूपों में अनुभूत यह नश्वर जगत् उस ब्रह्म की सत्ता से ही सत्य के समान भासता है। वही परमेश्वर सब भूतों का कारण है, सृष्टि कर्ता है तथा बृहत् है। सृष्टिकर्ता एवं बृहत् होने से उसका नाम ब्रह्मा है, पालन कर्ता होने से वह विष्णु है एवं संहारकर्ता होने से उसको भैरव नाम से कहा जाता है। निर्वाण तन्त्र में कहा है–

"स एक एव सद्रूपः सत्योऽद्वैतः परात्परः ।
स्वप्रकाशः सदापूर्णः सच्चिदानन्द लक्षणः ॥
निर्विकारो निराधारो निर्विशेषो निराकुलः ।
गुणातीतः सर्व साक्षी सर्वात्मा सर्व दृग्विभुः ॥
गूढः सर्वेषु भूतेषु सर्वव्यापी सनातनः ।
सर्वेन्द्रिय गुणाभासः सर्वेन्द्रिय विवर्जितः ॥
तदाधीनं जगत्सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरं ।
तदालम्बनतः तिष्ठेदवितर्क्यमिदं जगत् ॥
तत्सत्यतामुपाश्रित्य तद्वत्भाति पृथक् पृथक् ॥
तेनैव हेतु भूतेन वयं जाताः महेश्वरि ।
कारणं सर्वभूतानां स एकः परमेश्वरः ॥
लोकेषु सृष्टि करणात् स्रष्टा ब्रह्मेति गीयते ।
विष्णुः पालयिता देवि संहर्ताहं तदेच्छया ॥
इन्द्रादयो लोकपालाः सर्वे तद्वशवर्तिनः ॥"

यद्यपि "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते...." । आदि श्वेताश्वतर श्रुति के द्वारा पूर्व में हम प्रतिपादित कर चुके हैं कि ब्रह्म का कोई शरीर अथवा इन्द्रियां नहीं हैं तथापि ब्रह्म (भैरव) का यह सब कार्य कर्तृत्व शक्ति के द्वारा सम्पादित होता है जो परा नाम से लोक में विख्यात है। परा शक्ति परमात्मा ब्रह्म की साक्षात् प्रकृति है। प्रलय काल में शक्ति का अवस्थान ब्रह्म के अन्तः में रहता है तथा उत्पत्ति के समय बाह्य जगत् के रूप में इसका प्रादुर्भाव होता है। अतः शक्ति को ही जगत् की जननी कहा गया है। यह समस्त विद्याओं में प्रथम है अतः इसको आद्या भगवती के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह सकल जगत् की ज्ञातृ है अर्थात् ब्रह्म की ईक्षणात्मिकाशक्ति है। जैसा कि श्रुति में कहा है "तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत" "तदैक्षत वहुस्यां" आदि।

तन्त्र शास्त्र में ब्रह्म को पर्याय से शिव, परमेश्वर, भैरव, कामेश्वर आदि नामों से व्यवहृत किया गया है उसी प्रकार ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति को भी तत् तत् देवताओं के अनुकूल विभिन्न नामों से सम्बोधित किया है। जैसे कामेश्वर के साथ कामेश्वरी, भैरव के साथ भैरवी, शिव के साथ शिवा, भव के साथ भवानी, महाकाल के साथ महाकाली आदि।

आगम शास्त्र में परा शक्ति को मुख्यतः दश विद्याओं के रूप में विभाजित किया है। महा निर्वाण तन्त्र के अनुसार शक्ति को काली, तारिणी, दुर्गा, षोडशी, भुवनेश्वरी, धूमावती, वगला, भैरवी, छिन्नमस्ता, अन्नपूर्णा, कमला आदि नामों से व्यवहृत किया है।

"त्वं काली तारिणी दुर्गा षोडशी भुवनेश्वरी।
धूमावती च त्वं वगला भैरवी छिन्नमस्तका ॥
त्वमन्नपूर्णा वाग्देवी त्वं देवि कमलालया।
सर्वशक्ति स्वरूपा त्वं सर्व देवमयी विभुः ॥
त्वमेव सूक्ष्मा स्थूला त्वं व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
निराकारापि साकारा कस्त्वां वेदितुमर्हति ॥"

(महा. नि. तन्त्र)

वस्तुतः सर्व–स्वरूपिणी परा शक्ति समस्त जगत् की जननी है अतः उसकी तुष्टि होने पर सब की तुष्टि हो जाती है। सृष्टि के आदि में अगोचर तमरूपा शक्ति ही विद्यमान थी तथा अन्त में भी कालरात्रि के रूप में वह शक्ति शेष रहती है। जैसा कि कल्याणी स्तोत्र में वर्णन है–

"कल्पोपसंहरण कल्पित ताण्डवस्य,
देवस्य खण्ड परशोः पर भैरवस्य।
पाशाङ्कुशैक्षव शरासन पुष्पवाणाः,
सा साक्षिणी विजयते तवमूर्तिरेका ॥

शिव के प्रलयकारी ताण्डव के समय जगत् का संहार हो जाने पर शिव की अभिन्न शक्ति ही साक्षिणी के रूप में शेष रह जाती है। इसके विपरीत जब जगत् के रूप में शक्ति का विलास होता है सृष्टि काल में शिव साक्षी के रूप में शक्ति के अन्तः में प्रविष्ट रहते हैं। योगवाशिष्ठ में भैरव एवं काल रात्रि के नृत्य का अत्यन्त मार्मिक वर्णन दिया गया है जो इस पुस्तक के अन्त में उद्धृत है।

महा निर्वाण तन्त्र लिखता है कि ब्रह्म सत्स्वरूप एवं सर्वव्यापी है जिस से समस्त संसार आवृत है। उसका एक अद्वैत चिन्मात्र स्वरूप कार्य रूप जगत् से निर्लिप्त है। वस्तुतः उसकी इच्छा मात्र का अवलम्बन कर परा शक्ति ही चराचर जगत् को उत्पन्न करती है, पालन करती है एवं संहार करती है। महा प्रलय के समय जगत् का संहारक महा काल भी शक्ति का ही रूप है तथा काल को भी वह शक्ति आत्मसात कर लेती है, अतः उस को आद्या कालिका नाम से सम्बोधित किया जाता है।

"तवरूपं महाकालो जगत्संहारकारकः।
महासंहार समये कालः सर्वं ग्रसिष्यति ॥
कलनात्सर्वं महाकालः प्रकीर्तितः।
महा कालस्य कलनात्वमाद्या कालिका परा ॥
काल संग्रसनात् काली सर्वेषामादि रूपिणी।
कालत्वादादि भूतत्त्वादाद्याकालीति गीयते ॥
पुनः स्वरूपमासाद्य तमोरूपं निराकृतिः।
वाचातीतं मनोगम्यं त्वमेकैकावशिष्यते ॥

प्रलय के समय निराकार तमो मय स्वरूप में एकाकी शक्ति मात्र ब्रह्म के अन्तः में लीन रहती है जो ब्रह्म से सर्वथा अभिन्न अर्थात् एक रूप है। अत एव ब्रह्म-साधना एवं शक्ति-साधना का ध्येय एक है।

मूल प्रकृति सहित तुरीय अवस्था ही ब्रह्म का स्वरूप है। इस प्रकार ब्रह्म से तात्पर्य है मूल प्रकृति सहित ब्रह्म तथा शक्ति से तात्पर्य है ब्रह्म से संश्लिष्ट मूल प्रकृति अर्थात् परा शक्ति, जिस की उपासना माया, महामाया, काली, महाकाली, भैरवी आदि नामों से की जाती है। ब्रह्म एवं ब्रह्म की शक्ति दो पृथक् तत्त्व नहीं हैं। यदि ब्रह्म को कर्तृत्व शक्ति से पृथक् कर दिया जावे तब वह केवल जड़मात्र शेष रह जाता है। कहा है—**"त्वां विना जाड्यमान सः"**। इसी प्रकार यदि शक्ति की कल्पना ब्रह्म से पृथक् की जावे तब शक्ति केवल जड़मात्र शेष रह जाती है। अतः रहस्य सम्प्रदाय का यह निश्चित सिद्धान्त है कि परम तत्त्व शिव-शक्ति का संश्लिष्ट रूप है। कहा है—**"न क्रिया रहितं ज्ञानं, न ज्ञान रहिता क्रिया"**। अतः ब्रह्म की उपासना से तात्पर्य होता है शक्ति से संश्लिष्ट ब्रह्म की उपासना, तथा शक्ति की उपासना का अर्थ है ब्रह्म से संश्लिष्ट शक्ति की उपासना। इस प्रकार ब्रह्म की उपासना एवं शक्ति की उपासना का एक ही ध्येय है। जो फल ब्रह्म की उपासना से प्राप्त होता है वही फल शक्ति की उपासना से प्राप्त होता है, अर्थात् दोनों ही उपासनाओं के फलस्वरूप ब्रह्म से तादात्म्य की प्राप्ति होती है। अतः महा निर्वाण तन्त्र का कथन है:—

**"अतः ते कथितं भद्रे ब्रह्म मन्त्रेण दीक्षितः।
यत्फलं समवाप्नोति तत्फलं तव साधनात् ॥"**

——:०:——

आत्म-तत्त्व-निरूपण

वृहदारण्यक श्रुति में कहा है **"आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुष विधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमीति व्याहरत् ततोऽहंनामाभवत्"**।।

सर्व प्रथम आत्मा ही था। अतः इससे उद्भूत प्रथम शरीरी को प्रजापति कहा जाता है यह शरीर आदि भेद समुदाय उस प्रजापति के शरीर से अभिन्न है। कारण यह है कि शरीरान्तर की उत्पत्ति से पूर्व आत्मा ही था। बह पुरुष के समान शिर, हाथ, पैर, आदि लक्षण से युक्त विराट् पुरुष था।

प्रथम उद्भूत उस आत्मा ने अन्वीक्षण किया कि मैं कौन हूं कैसे लक्षणवाला हूं इत्यादि। इस अन्वीक्षण से उसको ज्ञात हुआ कि अपने ही प्राण के पिण्ड स्वरूप देह एवं इन्द्रियों के संघात के अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है। केवल स्वयं को ही सब की आत्मा के रूप में देखा। उस को ज्ञात हुआ कि पूर्व जन्म में श्रौत विज्ञान से संस्कृत मैं वह प्रजापति हूं। सब का आत्मा **"अहमस्मि"** अर्थात् मैं ही हूं ऐसा कहा। अतएव अहं कहने के कारण उस का नाम अहं हो गया तथा उस आत्मा का अहं नाम से व्यवहार किया जाता है। यह अहं नामा आत्मा ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय का फल है। वह संसार के विषय से वाहर नहीं है अतः एकाकी होने पर भी उस को भय उत्पन्न हुआ। श्रुति कहती है **"सोऽविभेत्तस्मादेकाकी विभेति"**। किन्तु संसार में देखा जाता है कि भय दूसरे से ही उत्पन्न होता है स्वयं से नहीं। **"द्वितीयाद्वै भयं भवति"** ऐसा श्रुति भी प्रतिपादन करती है। उस पुरुष विध आत्मा को एकाकी होते हुए भी जो भय उत्पन्न हुआ उसका कारण अज्ञान है अर्थात् अविद्या है। श्रीमदाचार्य शङ्कर का कथन है कि

द्वितीय वस्तु केवल अविद्या के द्वारा उपस्थापित है अतएव एकत्त्व के दृष्टा साधक के लिये किसी प्रकार के मोह एवं शोक के लिये स्थान नहीं है। "**तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः**"॥ इस प्रकार वेदान्त शास्त्र में चिद्रूपा शक्ति को गौण एवं शक्ति के ऐश्वर्य को औपाधिक मान्य किया है। आगम द्वारा प्रतिपादित चित्स्वरूप में ऐश्वर्य उपाधि-मूलक नहीं है अपितु स्वाभाविक है। प्रत्यभिज्ञा हृदय में चिति को विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय को घटित करने में स्वतन्त्र प्रतिपादित किया है— "**चितिः स्वतन्त्रा विश्व सिद्धि हेतुः**"। ब्रह्म वाद में चित् की स्वातन्त्र्य शक्ति को अङ्गीकार नहीं किया है किन्तु आगम शास्त्र में शक्ति के स्वातन्त्र्य का ही माहात्म्य है। शिव सूत्रों में भी आत्मा को चैतन्य रूप कहा है— "**चैतन्यं आत्मा**" यहां चेतन से अभिप्राय है वह तत्त्व जो सर्व-ज्ञान-क्रिया में स्वतन्त्र है अर्थात् ज्ञान-क्रिया से परिपूर्ण चैतन्य का ही स्वातन्त्र्य निरूपित किया गया है। यद्यपि आत्मा के नित्यत्व, व्यापकत्व, अमूर्तत्व आदि अनन्त धर्म हैं तथापि यह धर्म अन्य पदार्थों में भी उपलब्ध हैं किन्तु स्वातन्त्र्य शक्ति की अन्य पदार्थों में उपलब्धि नहीं होती है अतः स्वातन्त्र्य शक्ति का उद्धार करने के हेतु आत्मा की परिभाषा में चैतन्य शब्द का समावेश किया गया है। स्वातन्त्र्य के प्रभाव से वह एक अद्वितीय रहते हुए भी अपनी मूल सत्ता के आधार पर द्वितीय का स्फुरण कर सकता है, निःस्पन्द रहते हुए भी स्पन्दनशील हो सकता है और अचल रहते हुए भी ईषत् चलन-युक्त है। यह स्वातन्त्र्य शक्ति ही एक अद्वैत रूप आत्मा में अनन्त प्रकार के विरोधा-भास एवं नानात्व के समन्वय का द्वार है। श्रुति भी कहती है "**तदेजते तन्नैजति**", "**तद्दूरे तद्वदन्तिके**"। जिस प्रकार वह अरूप, अशब्द, और अस्पर्श है उसी प्रकार वह सर्वरूप, सर्व शब्द एवं सर्व-स्पर्श भी है।

यह स्वातन्त्र्य नामक चिति शक्ति देश, काल, आकार आदि द्वारा परिच्छिन्न नहीं है इसका कोई अवच्छेदक नहीं हैं अतएव यह अखण्ड है। कहा है—

"देश कालाकार भेदः संविदो नहि युज्यते ।
तस्मादेकैव पूर्णाहं विमर्शात्मा चिदुच्यते ॥"

भगवत्पाद भर्तृहरि ने वेदान्त की दृष्टि से चिन्मूर्ति की निम्न परिभाषा की है—

"दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्त चिन्मात्र मूर्तये ।
स्वानुभूत्येक मानाय नमः शान्ताय तेजसे" ॥

अर्थात् चिन्मात्र मूर्ति दिक्, काल, आकार से अनवच्छिन्न है । किन्तु ब्रह्म का व्याप्तृत्व दिक्, काल, आकार में भी है । यदि दिक्, काल आदि में ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार न किया जावै तब ब्रह्म के अखण्डत्व की कल्पना नष्ट हो जावैगी । अतः सर्वात्मता की यही परिभाषा उत्तम है कि जो सर्व व्यापी है वह दिक् काल में भी अवश्य विद्यमान है । "**अवश्यं व्यापको यो हि सर्वं दिक्षु स वर्तत**" । अतएव वेदान्तियों के समान आगमिकों ने विश्व को सर्वथा असत्य स्वीकार नहीं किया है अपितु केवल नाम रूप को असत्य कहा है तथा बीज रूप में विश्व के प्रलय काल में भी स्थिति का प्रतिपादन किया है ।

प्रत्यभिज्ञा हृदय में आत्मा के चैतन्य स्वरूप का समर्थन करने के हेतु "**तद्भूमिकाः सर्वदर्शन स्थितयः**" सूत्र लिखा गया है । अन्यान्य चार्वाकादि दर्शनों में आत्मा के स्वरूप का जो दिग्दर्शन कराया गया है वह आत्मा के चैतन्य रूप की ही भूमिकाएँ हैं । जिस प्रकार नट स्वेच्छा से कृत्रिम रूप धारण करता है उसी प्रकार अन्य दार्शनिकों ने चैतन्य रूप आत्मा के कृत्रिम स्वरूप का लक्षण प्रस्तुत किया है । चार्वाक मत में चैतन्य विशिष्ट शरीर को आत्मा कहा गया है । नैयायिकों ने ज्ञानादि गुणों से आश्रित बुद्धि तत्त्व को आत्मा निरूपित किया है । अपवर्ग में उसके उच्छेद होने पर शून्यप्राय अहं प्रतीति से ज्ञात किन्तु सुख दुःख आदि उपाधि से रहित आत्मा को मान्य करने वाले मीमांसक

वास्तव में बुद्धि तत्त्व तक ही सीमिति हैं। इसी प्रकार तत्त्व को केवल ज्ञान का ही विस्तार स्वीकार करने वाले सौगतों का बुद्धि तत्त्व में ही पर्यवसान होता है। प्राण, अथबा अभाव अथवा शून्य को आत्मा स्वीकार करने वाले माध्यमिक बौद्ध आदि भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं। पाञ्चरात्र के मतानुयायी भगवान वासुदेव के विस्फुलिङग को जीव मानते हैं। सांख्य मत में आत्मा प्रकृति का परिणाम है वह भी अव्यक्त तक ही सीमित हैं। अन्य वेदान्ती जो श्रुति के 'सदेव इदमग्र आसीत्' मन्त्र के अनुसार सत् को आत्मा मानते हैं वह ईश्वर तत्त्व पर्यन्त आश्रित हैं। शब्द-ब्रह्म स्वीकार करने वाले पश्यन्ती को आत्मतत्त्व तथा वैयाकरण सदा शिव पद को आत्मा मानते हैं। तान्त्रिक सिद्धान्ती आत्मा को बिश्वोत्तीर्ण, कुल वादी विश्वमय तथा त्रिक वादी विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय स्वीकार करते हैं।

वेदान्त शास्त्र में तथा आगम में यह आत्मा अहं नाम से व्यवहृत किया गया है। अहं ब्रह्मास्मि, भैरवोऽहं, शिवोऽहं के द्वारा जीव एवं शिव में अभेद प्रतिपादित किया गया है। शिव, भैरव, गणपति, रुद्र, काली, सरस्वती आदि देवतागण आत्म तत्त्व के ही विवर्त हैं।

——:०:——

बन्ध–प्रतिपादन

जैसा कि ऊपर प्रतिपादित किया गया है यदि जीव एवं जड-विश्व स्वभाव से चैतन्य परम शिव रूप है तब जीव के बन्धन का कारण भी खोजना होगा। वेदान्त के समान आगम शास्त्र में भी अज्ञान को ही जीव के बन्धन का कारण अङ्गीकार किया है। शिव सूत्र के अन्तर्गत "**ज्ञानं-बन्धः**" एक सूत्र है जिस के द्वारा ज्ञान को बन्ध रूप प्रतिपादित किया गया है। ज्ञान दो प्रकार का है एक विश्व-ज्ञान जो बन्धन का कारण है, दूसरा निवृत्ति रूप ब्रह्म-ज्ञान। इस विश्वात्मक-ज्ञान का ही अपर नाम "**अज्ञान**" है। लिखा है "**अज्ञानाद्बध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्च संदृतिः**"।

यह अज्ञान ही आगम शास्त्र में मल अथवा पाश के नाम से प्रसिद्ध है। शिव स्वयं इच्छा से मल से आवृत हो कर जीव रूप में अवतरित होता है अर्थात् अपने शिवत्व से च्युत हो कर संसारी जीव रूप ग्रहण करता है। मल नाम से व्यवहृत यह बन्ध तीन प्रकार का है (१) मायिक मल (२) आणव मल (३) कार्मण्य मल।

(१) मायिक मल— वह अखण्ड एक अद्वैत शिव माया के कारण संसारी जीव के रूप में प्रकट होता है। माया का अर्थ है "**एक-स्यैवात्मनो नानात्वं**"। अर्थात् जो शक्ति एक अद्वैत शिव को नाना रूपों में प्रकट करती है उसका नाम माया है। अथवा "**मीयते अनया इति माया**" अर्थात् वह शक्ति जो असीम शिव को सीमा में वद्ध करती है, यही शक्ति पुनः जीव को शिव रूप में वापस लौटा देती है। आवर्तन तथा प्रत्यावर्तन यह दोनों ही कार्य शिव की मायाशक्ति के हैं जो स्वातन्त्र्य नाम से प्रसिद्ध है। इसका नाम परा शक्ति भी है। शिव अपनी स्वेच्छा से स्वयं को स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा वाह्यतः उन्मी-लित करता है। किन्तु मातृका चक्र विवेक में प्रतिपादित किया गया

है कि— "**प्रकाशो हि स्वस्वभाव भूतं स्वात्म विश्रान्तं पराप्रकृति स्वातन्त्र्य माया विद्यादि शब्दैरागमिकैर्व्यवह्रियमाणं जगद्बीजभूतं विमर्श कदाचित् प्रपञ्चानुसंधित्सायां स्वात्मभित्तावेव बहिरिव विसृज्यत.... स च वेदकश्चिद्रूपोऽपि प्रमुषित वैभवः प्रमेयतामुपगतो जीवो भवति**"॥ अर्थात् परा प्रकृति स्वातन्त्र्य माया विद्या आदि नामों से प्रसिद्ध स्वातन्त्र्य शक्ति से वह शिव प्रपञ्च के अनुसन्धान की इच्छा से स्वयं को इस प्रकार उन्मीलित करता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह जगत् रूप संसरण शिव से बाहर है। जीव एवं विश्व वस्तुतः शिव से बाहर नहीं हैं अपितु शिव ही उनका उपादान है।

(२) बन्ध का दूसरा कारण आणव मल है। अणु नाम अज्ञान का है। यह अज्ञान रूप मल दो प्रकार का कहा गया है। (क) आत्मा में आत्मत्व के ज्ञान का अभाव, अर्थात् यद्यपि आत्मा शिव रूप है तथापि अपने को शिव रूप न मान कर अपूर्ण जीव रूप मानना यह एक प्रकार का आणव मल है। इसको अपूर्ण मन्यता नाम से कहा है। इस में बोध के स्वातन्त्र्य की हानि हो जाती है। (ख) दूसरे प्रकार का आणव मल वह है जिसमें जीव देह आदि अनात्म पदार्थ को ही आत्मा मानने लगता है। कहा है—

"स्वातन्त्र्य हानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः"॥

(३) तीसरा है कार्मण्य मल अर्थात् कर्मजनित मल। पुण्य पाप भेद से यह भी दो प्रकार का है। अज्ञान रूप ज्ञान का अधिष्ठान मातृका हैं यह शिव सूत्रों में "**ज्ञानाधिष्ठानं मातृका**" सूत्र के द्वारा प्रतिपादित किया है। यह जो अपूर्ण मन्यता रूप शुभाशुभ वासनात्मक विविध प्रकार का भेद-ज्ञान कहा गया है उसका अधिष्ठान अकार से क्षकार पर्यन्त अज्ञाता मातृकाएँ हैं जो विश्व की जननी निरूपित की गई हैं।

शिव से सम्बद्ध परावाग्रूप मातृका महाशक्ति पूर्णाहन्ता मयी परम ऐश्वर्य से युक्त है। सूत संहिता के अनुसार मातृका का एक पर रूप ही अभीष्ट है जो ब्रह्मा, विष्णु आदि देवों से अचिन्त्य, चिन्मय एवं शिव से अभिन्न है। कहा है:--

"वाचामगोचराकारो मातृकायास्तथापरः।
ब्रह्म विष्ण्वादि देवानामचिन्त्यः सूक्ष्मतावधिः।
चिन्मयः पर चिद्रूपः शिवासंभिन्न एव हि ।।"
(सूत-सं.)

शिव से अभिन्न शक्ति जब स्वेच्छा से स्वनिष्ठित स्फुरत्ता का ईक्षण करती है तब विश्व का कारण होने से शान्ता नाम से व्यवहृत इस ईक्षणात्मिका वृत्ति से दो प्रकार की अर्थात् शाब्दी एवं अर्थमयी सृष्टि की उत्पत्ति होती है। अर्थ मयी सृष्टि के कारण ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र हैं। यह भी शक्ति के बिना कार्य करने में अक्षम हैं। ब्रह्मा आदि की शक्तियों का नाम वामा, ज्येष्ठा, रौद्री है। यह भारती, पृथ्वी एव रुद्राणी नाम से प्रसिद्ध शक्तियां ही इच्छा-ज्ञान-क्रिया कही जाती हैं।

शब्द-सृष्टि का कारण पश्यन्ती, मध्यमा एवं बैखरी शक्तियां हैं। ईक्षणात्मिका वृत्ति कारण का भी कारण है अतएव ईक्षण को ही इच्छा आदि त्रय, वामा आदि त्रय, तथा पश्यन्ती आदि त्रय शक्तियों का समष्टि रूप कहना उचित है। इसको ही परा नाम से सम्बोधित किया जाता है। योगनी हृदय में कहा है—

"यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भवः ।।
आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमाकला।
अम्बिकारूपमापन्ना परा वाक्समुदीरिता ।।

शिव से अभिन्न वह अखण्ड शक्ति प्रथम परारूप में प्राणियों के देह में आश्रित रहती है। यही जीव कला के नाम से प्रसिद्ध है जो मूलाधार में प्रसुप्त अवस्था में कुण्डलिनी रूप में स्थित रहती है। जिसको भैरवी नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। योग वाशिष्ठ में कहा है—

"पुर्यष्टक पराख्यस्य जीवस्य प्राण नामिकाम्।
विद्धि कुण्डलिनीमन्तरामोदस्येव मञ्जरीम्॥

तथा—

"चैतन्यं सर्वभूतानां शब्द ब्रह्मेति मे मतिः।
तत्प्राप्य कुण्डली रूपं प्राणिनां देह मध्यगं।
वर्णात्मनाऽविर्भवति गद्यपद्यादि भेदतः॥"

परा शक्ति मूलाधार से ऊपर उठकर पश्यन्ती रूप में मणिपूर में प्रवेश करती है। यहां भी इसका अविभाजित रूप रहता है तथा समस्त शक्तियों का सूत्र रूप में आविर्भाव हो जाता है। अनाहत हृदय प्रदेश में मध्यमा के अन्तर्गत भेद का किञ्चित् आभास होता है तथा अव्यक्त रूप में ही वर्णों का भेद हो जाता है जो वैखरी वाणी में घनीभूत होकर वर्णों के रूप में बाहिर प्रकट होता है। वाणी का नाम वैखरी इस लिये कहा जाता है कि यह विखर अर्थात् शरीर में उत्पन्न होती है तथा मध्यमा में अव्यक्त रूप में आविर्भूत वर्ण-भेद वैखरी में निश्चित रूप धारण कर रव अर्थात् कर्णविवर में सुनाई देता है। **"वै निश्चयेन रवं कर्णविवरं राति गच्छति"**। इस के अतिरिक्त विखर नाम प्राण का भी है, प्राण से प्रेरित वायु मूलाधार से कण्ठ आदि स्थानों में होकर मुखगत विभिन्न अवयवों से आहत होकर जब बाहर निर्गमन करती है तब अ से क्ष पर्यन्त वर्णों के रूप में परिणत हो जाती है। वर्णों के सम्मेलन से पद, वाक्य, काव्य, पुराण आदि की रचना होती है। वाक् शक्ति का यह सक्रम रूप है। इस से ही छत्तीस तत्त्वों का आविर्भाव होता है। अकार से क्षकार पर्यन्त शब्द राशि से उद्भूत ब्राह्मी आदि शक्तियां ही

पुरुष का उपभोग करती हैं। इन शक्तियों के कारण शिव अपने स्वातन्त्र्य रूप स्वभाव से प्रादुर्भूत वैभव से च्युत हो जाता है, तथा पशु अथवा जीव नाम से सम्बोधित होता है। तब शिव स्वयं को जीव रूप में अनुभव करता है **"मैं अपूर्ण हूँ", "क्षीण हूँ," "स्थूल हूँ"**। इस प्रकार जीव में वर्तमान क्रियात्मिका मातृकाशक्ति जब तक अप्रबुद्ध रहती है तब तक विश्वात्मक ज्ञान की जननी मातृका बन्धन का कारण बनी रहती है। स्पन्द कारिका के तृतीय निष्यन्द में कहा है--

"शब्दराशि समुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यतां।
कला विलुप्त विभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ॥
परामृत रसापायः तस्य यः प्रत्ययोद्भवः।
तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्र गोचरः ॥
स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः।
यतः शब्दानुवेधेन न बिना प्रत्ययोद्भवः ॥
सेऽयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥"

इस प्रकार शिव के स्वरूप के आवरण एवं विक्षेप रूप होने से अज्ञाता मातृका बन्धकारिणी निरूपित है।

परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी वाणी के द्वारा अ से ह पर्यन्त वर्ण प्रकाशित होते हैं अतः यह अविच्छिन्न परमार्थ रूप स्फुरण प्रत्याहार न्याय से 'अहम्' नाम से निरूपित है। शक्ति का यह क्रम भैरव की इच्छा से ही सम्पादित होता है। अतः यहां भैरवनाथ का ही देवत्व प्रतिपादित है। मातृकाओं के द्वारा कल्पित जिस बन्ध का ऊपर उल्लेख किया गया है उस बन्ध का शमन भैरव नाथ के तादात्म्य से ही सम्भव होता है जिसको शिवसूत्रों में **"उद्यमो भैरवः"** सूत्र के द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

——:o:——

भैरव – निरूपण

तटस्थ लक्षण तथा स्वरूप लक्षणों के द्वारा, बन्धन से मुक्ति के हेतु-भूत ब्रह्म की उपासना की चर्चा पूर्व में कर आये हैं। मुक्ति का तीसरा उपाय योग है जिसके द्वारा योगी ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं। शारदा तिलक में योग का अर्थ जीव एवं आत्मा का ऐक्य निरूपित किया गया है।

"ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगं विशारदाः।
जीवात्मनोरभेदेन प्रतिपत्तिमपरे विदुः।
शिव शक्त्यात्मकज्ञानं जगुरागम वेदिनः" ॥

शिव सूत्रों में, मातृका शक्ति द्वारा कल्पित विश्व के बन्धन से मुक्ति का उपाय भगवान भैरव को निरूपित किया गया है– भैरव उद्यम है "**उद्यमो भैरवः**"। मूलाधार में स्थित प्रसरणशील संवित् अर्थात् परा नामक प्राण शक्ति जब सहसा बिना विलम्ब के ही परप्रतिभा में उन्मज्जित हो जाती है उसको उद्यम नाम से सम्बोधित किया है। यह उन्मज्जन उच्छलनात्मक होता है अर्थात् शक्तिपात वश आकस्मिक नवीन स्वरूप-प्रथा (ज्ञान) का स्फुरण होता है। प्राण के इस उद्यम में समस्त शक्तियां एक रस होकर मूलाधार में स्थित परा शक्ति में एकत्र होकर पिण्ड रूप हो जाती हैं तथा यह पिण्ड समस्त विश्व से परिपूरित रहता है एवं विश्व की सकल कल्पनाओं के समूह को यह आत्मसात् कर लेता है अतएव इस अवस्था को भैरव नाम दिया गया है।

इस निर्विकल्प भैरवात्मक स्वरूप की अनुभूति अन्तर्मुख साधक को होती है। समस्त शाब्दी एवं आर्थी सृष्टि (भैरवात्मक) अभिव्यक्ति में समाविष्ट हो जाती है। बन्ध-मुक्ति के इस उपाय को शाम्भव उपाय नाम से भी सम्बोधित किया गया है :—

"अकिञ्चिच्चिन्तकस्येव गुरुणा प्रतिबोधितः ।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः" ।।
(मा. वि. त.)

गुरु के द्वारा प्रतिबोधित साधक का चित्त चिन्तन क्रिया से रहित होकर जिस तत्त्व में समाविष्ट हो जाता है उस को शाम्भव उपाय के नाम से व्यवहृत किया है। शिव सूत्र के टीकाकार क्षेमराज ने सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार गुरु शब्द का अर्थ आत्मा किया है। **"गुरुतः स्वस्मात् प्रतिबोधितः"**। इसका अभिप्राय है कि आत्म तत्त्व ही भैरव है। स्वच्छन्द शास्त्र में कहा है—

"आत्मनो भैरवं रूपं भावयेद्यस्तु पूरुषः ।
तस्य मन्त्राः प्रसिद्धयन्ति नित्य युक्तस्य सुन्दरि" ।।

अर्थात् जो अपनी आत्मा की भैरव रूप में भावना करता है उस साधक के मन्त्र की सिद्धि होती है। प्राण वायु के अन्तर्मुख उद्योग से जिस पद में समावेश होता है उसके परामर्श का नाम भावना है। स्पन्द कारिका में निम्नाङ्कित रूप में इस की परिभाषा की गई है :—

"एक चिन्ता प्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः ।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत्" ।।

अर्थात् एक चिन्ता में आसक्त साधक का दूसरी चिन्ता में प्रवेश होने से पूर्व जिस मध्य अवस्था का उन्मेष होता है वह उन्मेष उभय चिन्ताओं में भी व्याप्त होता है। साधक इस मध्यवर्ती उन्मेष को लक्ष्य के रूप में स्थापित करे। विज्ञान भैरव में भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है :—

"भावे त्यक्ते निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं व्रजेत् ।
तदा तन्मध्य भावेन विकसत्यतिभावना" ।।

दो चिन्ताओं अर्थात् भावनाओं के मध्य में जो अवकाश दिखलाई देता है उसकी भावना करने पर अति-भाबना का विकास होता है। स्पन्दकारिका में भी कहा है :—

"तमधिष्ठातृ भावेन स्वभावमवलोकयन् ।
स्मयमान इवास्ते यः तस्येयं कुसृतिः कुतः ।।

अर्थात् जब साधक स्वभाव को अधिष्ठाता के रूप में अवलोकन करता है तब विस्मय का आविर्भाव होता है तथा कुसृति अर्थात् अज्ञान (विकल्प) द्वारा परिनिर्मित बन्धन नष्ट हो जाता है तथा शुद्ध निर्विकल्प भैरव रूप का आविर्भाव होता है। अर्थात् साधक व्युत्थान दशा में भी विश्व में व्याप्त भैरवत्व की अनुभूति करता है। विज्ञान भैरव में इस सम्बन्ध में कहा है कि मरुत्रूप शक्ति न कहीं जाती है और न ही कहीं प्रवेश करती है अपि तु दो भावनाओं के मध्य में निर्विकल्पतया विकसित होती है तदनन्तर भैरव रूप धारण करती है।

"न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासते ।
निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरव रूपधृक्" ।।

(वि. भै. २६)

विज्ञान भैरव के टीकाकार ने स्पष्ट किया है कि मरुत्रूपा शक्ति न हृदय से द्वादशान्त तक ही जाती है और न द्वादशान्त से हृदय पर्यन्त पुनः वापस आती है अपितु मध्य नाडी सुषुम्ना में विकल्प के संहारात्मक उपाय के रूप में विकसित होती है। इसका अभिप्राय है कि चक्षु आदि इन्द्रियां अपने अपने विषयों को स्पर्श करते हुए भी अपने स्पन्द तत्वात्मक आधारभूत स्वभाव का अवलोकन कर के निमीलन तथा उन्मीलन समाधि में एक साथ मध्य भूमि में दृढ रह कर, समस्त विकल्पों के विगलित हो जाने के कारण निर्विकल्प का अनुभव करती हैं। इस अवस्था में करण अर्थात् इन्द्रियों का अक्रम अर्थात् शिव में अवस्थान रहता है। प्रत्यभिज्ञा

हृदय में **"मध्यविकासात् चिदानन्द लाभः"** सूत्र में इसी भाव को प्रति-पादित किया है। जिस प्रकार पलाश के पत्ते के मध्य में ऊपर से नीचे तक एक शाखा होती है उसी प्रकार ब्रह्म रन्ध्र से अधोवक्त्र पर्यन्त प्राणशक्ति मध्यम नाडी अर्थात् सुषुम्ना के रूप में प्रधानतया स्थित है। समस्त वृत्तियों का उदय वहीं से होता है तथा उसी स्थान पर वह शक्तियां विश्राम करती हैं। जीव का यह निमीलित स्वरूप है। जब साधक के हृदय में अन्तः व्यापिनी भगवती संवित् का उदय होता है अथवा उपर्युक्त युक्ति के अनुसार मध्य भूता ब्रह्म नाडी का विकास होता है तब दोनों प्रकार के विकास में चिदानन्द स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

निमीलनोन्मीलन समाधि

अन्तः समाधि से जब योगी जागता है तब उसका बाह्य जगत् में समावेश होता है। यह उन्मीलन अवस्था अर्थात व्युत्थान दशा है। इस दशा में भी योगी अन्तः समाधि का रसास्वादन करता है। आवेश वश प्रथम बाह्य से अन्तः में प्रवेश होता है तदनन्तर अन्तः से बाह्य रूप में समावेश होता है। यह बाह्याभ्यन्तर मुद्रा क्रम ही निमीलनोन्मीलन समाधि का रहस्य है। शिव सूत्रों के **"शक्ति चक्र सन्धाने विश्व संहारः"** सूत्र का भी यही अर्थ है। अर्थात् व्युत्थान दशा में भी योगी समस्त विश्व को शिवमय अनुभव करता है।

इसका तात्पर्य है कि सृष्टि, स्थिति, संहारात्मक संवित् क्रम को तुरीया शक्ति आत्मसात् कर लेती है। जिस साधक ने क्रम मुद्रा से पूर्णाहन्ता का स्वरूप अन्तरित कर लिया है वह बहिर्मुख विषयों में व्यापृत होते हुए भी पर शक्ति के स्फार का ही साक्षात्कार करता है। कहा है—

> येनेह सर्ववृत्तीनां मध्यसंस्थोऽपि सर्वदा।
> महा व्योम समाविष्टस्तिष्ठाम्यस्मिन्निराविलः॥

मुद्रा का अर्थ

बाह्य से आभ्यन्तर में तथा आभ्यन्तर से बाह्य में इस समावेश का उदय नित्य अर्थात् स्थाई रूप में होता रहता है। जिससे साधक को

मुद अर्थात् हर्ष की प्राप्ति होती है। जो परमानन्द स्वरूप है जिससे पाश अर्थात् बन्धन का द्रावण (विनाश) होता है तथा विश्व में रहते हुए भी तुरीय सत्ता का मुद्रण होता है अतएव इसका नाम मुद्रा है। किन्तु सृष्टि आदि के क्रम का इस में आभास होता है अतएव इस को क्रम नाम से सम्बोधित किया है। **"स बाह्याभ्यन्तरः अयं नित्योदित समावेशात्मा मुदो हर्षस्य वितरणात् परमानन्दस्वरूपत्वात् पाशद्रावणात्, विश्वस्यान्तः तुरीयसत्तायां मुद्रणात् च मुद्रात्मा, क्रमोऽपि सृष्टचादि क्रमाभासकत्वात् तत्क्रमाभासरूपत्वात् च क्रम इति अभिधीयते ॥इति॥**

क्रम से अक्रम में तथा अक्रम से क्रम में इस प्रवेश को भैरवीयमुद्रा के रूप में भी प्रतिपादित किया है। कहा है—

"अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ॥
एषा वै भैरवी मुद्रा सद्यस्तत्पददायिनी ॥

भैरवी मुद्रा में अनुप्रवेश से मरुत्रूपा शक्ति का न बाहर प्रसार होता और न अन्तः में प्रवेश होता है। इस प्रकार प्राण तथा अपान भाव में अभिव्यक्त भैरवीय स्वरूप के शमन हो जाने पर योगी भैरव रूप धारण करता है। संक्षेप में सार यह है कि भैरवावस्था में प्राणापान के प्रवेश एवं निर्गमन का भाव समाप्त हो जाता है। योग वाशिष्ठ में भी कहा है—

"अस्तंगतवति प्राणे त्वपानेऽभ्युदयोन्मुखे।
बहिः कुम्भकमालंब्य चिरं भूयो न शोच्यते ॥"

तथा—

"प्राण क्षय पदान्तस्थमपानक्षय कोटिगम्।
अपान प्राणयोर्मध्यं चिदात्मानमुपास्महे ॥"

प्राण के क्षय हो जाने के पश्चात् तथा अपान के उदय होने से पूर्व अर्थात् प्राणापान के मध्य में जो सन्धि—काल होता है वह भैरवावस्था है। इस अवस्था की सहज तुरन्त ही प्राप्ति हो जाती है तथा मूलाधार से

आज्ञा पर्यन्त चक्रों में प्राणवायु का उत्थान आवश्यक नहीं है। छन्दोग्य उपनिषत् में कहा है—"**यद्वैप्राणिति स प्राणो यदपानितिसोऽपानः। अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः स वाक्। तस्मादप्राणन्नन-पानन्वाचमभिव्याहरति**"। प्राणापान की जो सन्धि है उसका नाम व्यान है जो व्यान है वही वाक् है। इसी लिये प्राण तथा अपान की क्रिया किये बिना ही पुरुष वाणी बोलता है। प्राण एवं अपान की क्रिया के बिना सन्धि अवस्था में ही ऋक् एवं साम का गायन किया जाता है। उपनिषत् आगे प्रतिपादित करता है कि—"**अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मन्थनभाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनम-प्राणान्ननपायन्स्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानिमेवोद्गीथमुपासीत**"॥ (छा. उप. अध्याय १ खण्ड ३—मं ३,४,५)—अर्थात् इसके अतिरिक्त जो भी वीर्य युक्त कर्म हैं जैसे अग्नि का मन्थन, सुदृढ धनुष को खींचना आदि उन सब कर्मों में पुरुष प्राण एवं अपान की क्रिया न करता हुआ ही कर्म का सम्पादन करता है। अर्थात प्राण एवं अपान की सन्धि में वीर्य बल के कार्य सम्पादित होते हैं।

हमारे गुरु पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज ने ईशावास्योपनिषत् पर लिखे गये प्रकाश भाष्य में प्राणापान के समायोग अर्थात सन्धि को एवं शब्द तथा विज्ञान के समान अभ्यास को अद्वैत की प्राप्ति का उपाय प्रतिपादित किया है—

"प्राणापान समायोगाच्छब्दतत्त्व समाश्रयात्।
विज्ञानतत्त्व सापेक्षात् ब्रह्माद्वैतं प्रकाशते॥"

योगवाशिष्ठ में प्राणापान के समायोग को ही चित् तत्त्व निरूपित किया है—

"**समायोगः सन्धिः तत्समयं तत्र विभातं ब्रह्मेति यावत्**"।" (काक-भुषुण्ड का चिरजीवित प्रकरण)

—:०:—

महाविन्दु-निरूपण

प्रलय काल में सृज्यमान प्राणियों के कर्मों की अपरिपाक दशा में (कर्मों से अभिन्न) माया से अवच्छिन्न ब्रह्म को घनीभूत ब्रह्म कहा जाता है। काल वश जब कर्मो का परिपाक हो जाता है तब जगत् की सृष्टि की इच्छा के समय माया वृत्ति की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार परिपक्व कर्मों के फल के रूप में आविर्भूत माया से विशिष्ट ब्रह्म को अव्यक्त नाम से सम्बोधित किया जाता है। जैसा कि कहा है :— "**तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम**"। वही अव्यक्त ब्रह्म जगत् के अङ्कुर का कन्दरूप होने के कारण विन्दु-पद कहा जाता है। जैसा कि प्रपञ्च सार में लिखा है— "**विचिकीर्षुः घनीभूता स चिदभ्येति विन्दुताम्**"। कारण-विन्दु से क्रमशः कार्य-विन्दु, कार्य-विन्दु से नाद एवं नाद से बीज की उत्पत्ति कही गई है। कार्य-विदु, नाद एवं बीज को ही पर, सूक्ष्म, एवं स्थूल नाम से सम्बोधित किया जाता हैं। इन के तीन रूप है :— (१) चिदंश, (२) चिदचित् अंश (३) एवं अचित् अंश। रहस्य आगम में इस का उल्लेख मिलता है:—

"कालेन भिद्यमानस्तु स विन्दुर्भवति त्रिधा।
स्थूल सूक्ष्म परत्वेन तस्य त्रैविध्यमिष्यते॥
स विन्दुनादबीजत्वभेदेन च निगद्यते"॥

कारण-विन्दु, कार्य-बिदु, नाद एवं बीज चारों (१) अधिदैवत दृष्टि से अव्यक्त, ईश्वर, हिरण्य गर्भ, एवं विराट् नाम से कहे गये हैं यही शान्ता, वामा, ज्येष्ठा, रौद्री रूप तथा अम्बिका, इच्छा, ज्ञान, क्रिया का स्वरूप हैं। (२) यही चारों कारण-विन्दु आदि आधिभौतिक दृष्टि से कामरूप, पूर्ण गिरि, जालन्धर, एवं उड्डीयान पीठ रूप हैं। कालिका पुराण में लिखा है कि बाह्य सृष्टि में कामरूप आदि चारों

पीठ देवी के रूप में लौहित्य आदि नद के किनारे स्थापित हैं। शरीर के भीतर यह चारों पीठ कन्द, पद, रूप तथा रूपातीत नाम से विभिन्न स्थानों में निरूपित हैं। कन्द सुषुम्ना नाडी का मूल है जिसको मूलाधार कहा जाता है। पद नाम हंस का है जो हृदयस्थान है। रूप नाम विन्दु का है अर्थात् भ्रूमध्य। रूपातीत निष्कल ब्रह्म है जो ब्रह्म रन्ध्र नाम से निरूपित हैं। कहा है :—

"कन्दः कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।
रूपं विन्दुरिति ख्यातं, रूपातीतं तु निष्कलम्" ॥

तत् तत् स्थानों में कामरूप आदि की स्थापना कही गई है।

(३) तृतीय अध्यात्म पक्ष है जिसके अनुसार कारण विन्दु शक्ति, कुण्डलिनी, पिण्ड आदि शब्दों के द्वारा व्यवहृत है। यह कारण विन्दु अविभागावस्था है। जब यह कारण विन्दु प्रजनोन्मुख होता है तब इस का विभाजन होने पर रव की उत्पत्ति होती है। कहा है—

"विन्दोस्तस्माद्भिद्यमानादव्यक्तात्मा रवोऽभवत्।
स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्द ब्रह्मेति गीयते" ॥

कारण विन्दु के भेद होने पर जो रव उत्पन्न होता है वही शब्द-ब्रह्म के नाम से आगम शास्त्र में प्रतिपादित है। यद्यपि कारण-विन्दु से तादात्म्य होने के कारण यह रव सर्व-गत है तथापि अभिव्यञ्जक के प्रयत्न से सुसंस्कृत प्राण वायु के वश यह केवल प्राणियों के मूलाधार में अभिव्यञ्जित होता है। इस लिये कहा है—

"देहेऽपि मूलाधारेऽस्मिन्समुदेति समीरणः।
विवक्षोरिच्छयोत्त्थेन प्रयत्नेन सुसंस्कृतः ॥
स व्यञ्जयति तत्रैव शब्द ब्रह्मापि सर्वगम्" ॥

अतएव कारण-विन्दु के रूप में अभिव्यक्त यह शब्द-ब्रह्म आत्मा में प्रतिष्ठित होने के कारण निष्पन्द तत्त्व है। जिसको परा वाक् नाम से आगम शास्त्र में निरूपित किया है। वही परावाग्रूप प्राण वायु विमर्श के रूप में मन से संयुक्त होकर जब मूलाधार से नाभि पर्यन्त गमन करती है तब उस का नाम पश्यन्ती हो जाता है। यह प्रकाश रूप सामान्य स्पन्द कार्य-विन्दु है। पुनः वही शब्द ब्रह्म उसी वायु के द्वारा हृदय पर्यन्त अभिव्यञ्जित होने पर निश्चयात्मिका बुद्धि के साथ एक विशेष प्रकाशमय स्पन्द के रूप में अभिव्यक्त होता है जिसका स्वरूप नादात्मक है तथा मध्यमा नाम से व्यवहृत है। तदनन्तर वही शब्द-ब्रह्म कण्ठ आदि स्थानों में अकार आदि वर्णों के रूप में अधिक स्पष्टता से प्रकाशित होता है जिसको वैखरी नाम से कहा जाता है। आचार्यों ने कहा है :—

> " मूलाधारात्प्रथममुदितो यश्च भावः पराख्यः,
> पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः।
> व्यक्ते वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः,
> सुषुम्ना बद्धस्तस्माद्भवति पवने प्रेरिता वर्ण संज्ञा "॥

इस प्रकार मनुष्य वाणी के चार स्वरूपों में से केवल एक वैखरी को जानता है एवं उसका ही उपयोग करता है। वाणी के अन्य तीन रूप परा पश्यन्ती एवं मध्यमा अन्तः में गूढ होने से इङ्गित नहीं होते हैं श्रुति कहती है —

> " चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
> तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
> गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
> तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति " ॥

स्कन्द पुराण के यज्ञ वैभव खण्ड में लिखा है—

"अपदं पदमापन्नं पदं चाप्यपदं भवेत् ।
पदापद विभागं च यः पश्यति स पश्यति"॥

अपद का अर्थ है गतिरहित निःस्पन्द शब्दब्रह्म। इस अपद निष्पन्द तत्त्व का ही परा, पश्यन्ती आदि चार पदों में आविर्भाव होता है। जो अपद एवं चारों पदों को जानता है वही ब्रह्म के स्वरूप को वस्तुतः जानता है।

——:०:——

अहं का स्वरूप निरूपण

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाणी के सभी रूपों में नाद का ही प्रसार है। जिस प्रकार स्वर्ण में पार्थिव एवं तैजस अंश का संमिश्रण होता है उसी प्रकार अक्षर मात्र में ध्वनि अंश एवं वर्ण अंश का योग है। यह जो तारत्व एवं मन्दत्व का अनुभव होता है वह वर्णों में ध्वनि का धर्म है।

वर्णों में ध्वनि का अंश नादात्मक ही है, कारण यह कि नाद ही वर्णों का जनक है। नाद ही परा, पश्यन्ती आदि रूपों में प्रवाहित है। नाद के अन्तर्गत समस्त वर्णों का स्वरूप सूक्ष्म एवं अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। जिस प्रकार बीज के दो भागों के सम्पुट में वृक्ष के समस्त अवयव अन्तर्निहित होते हैं उसी प्रकार अहं रूप बीज के दो भाग अर्थात् अकार एवं हकार के अन्तः में नाद–ब्रह्म के समस्त वर्णात्मक लौकिक एवं वैदिक प्रपञ्च का अस्तित्व गर्भित है। इस कारण अकार से हकार पर्यन्त वर्णमाला के सभी वर्णों का पाठ अकार एवं हकार के सम्पुट में निबद्ध है। तात्पर्य यह कि श्रुति में ब्रह्म की अकार एवं हकार के समाहार से निरूपित अहंरूपता का प्रदर्शन किया गया है। जैसे— **"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदमहमिति"**––तथा ऐतरेय उपनिषत् में **"कस्त्वमित्यहमिति होवाच"** इत्यादि वचनों से अहं को ही ब्रह्म निरूपित किया है।

आगम शास्त्र में भी अहं को शिव एवं भैरव रूप में मान्य किया है। विरूपाक्ष पञ्चाशिका में लिखा है—

> "स्व परावभासन क्षम आत्मा विश्वस्य यः प्रकाशोऽसौ।
> अहमिति स एव उक्तोऽहंता स्थितिरीदृशी तस्य" ॥

अहं रूप होने से ब्रह्म की उपासना को भी अहंग्रह उपासना नाम से व्यवहृत किया है, तथा आगम में भी कहा है **"अहमित्येव विभावये-द्भवानीम्"**। कारण का स्वरूप अहमात्मक है अतः समस्त प्रपञ्च में अहं की ही अनुगति है। जिस प्रकार घट में कारणरूप मृत्तिका ही सर्वत्र व्याप्त रहती है उसी प्रकार अहं ही वैश्व प्रपञ्च के रूप में व्याप्त है। इसी कारण अस्मद् शब्द को (जिसका प्रथमा विभक्ति के एक वचन का रूप अहं है) सर्वनाम निर्धारित किया गया है। श्रुति कहती है— **"एकमेवेदं सर्वं तस्मादहमिति सर्वाभिधानं"**॥ अहं ही सर्वस्व है इसी कारण तन्त्रराज में कहा है **"आदिमान्त्यन्तु वेदयेत्"**। अर्थात् आदि अक्षर अकार (शिव) तथा अन्तिम अक्षर हकार (शक्ति) के स्वरूप को जानना चाहिये। कहा है—

"आदिमान्त्य विहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत्।
गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं निवेदयेत्"॥
"अतोऽकारहकाराभ्यामहमित्य पृथक्तया।
प्रपञ्चं शिवशक्तिभ्यां क्रोडीकृत्य प्रकाशते"॥

अर्थात् अखण्ड अपृथक् रूप में अकार, एवं हकार अर्थात् शिव एवं शक्ति के संश्लिष्ट स्वरूप अहं से ही जगत् प्रकाशित हो रहा है अतएव गुरु का केवल इतना ही कार्य है कि शिव-शक्ति के स्वरूप का निरूपण करें।

ऊपर यह जो नाद से उद्भूत ध्वनि की चर्चा की गई है उस से जहाँ एक ओर वर्णों के स्वरूप की रचना होती है वहां दूसरी ओर ध्वनि के तारत्व एवं मन्दत्व से संगीत के स्वरों का आविर्भाव भी होता है। षड्ज से निषाद पर्यन्त स्वरों के औढव, षाढव आदि संयोजन से नव रसात्मक लहरी का प्रवाह होता है जिससे अनेक राग-रागिनियों का उद्गम होता है। नव रसात्मक स्वरूप के कारण कतिपय रागिनियां चित्त के लिये बन्धनकारी होती हैं तथा कतिपय राग शान्त-स्वरूप होने

से निवृत्तिकारक भी हैं जिस से जीव को विश्रान्ति मिलती है। ध्वनि के रूप में स्वरों में भैरव का ही समावेश है। अतः भैरव के नाम से विख्यात राग का सर्व प्रथम स्थान संगीत शास्त्र में है। स्वर दो प्रकार के हैं शुद्ध एवं कोमल, अर्थात् विकृत शुद्ध स्वर भैरव तथा कोमल स्वर भैरवी का स्वरूप है। नृत्य कला में भी भैरव ताण्डवकर्ता हैं तथा भैरवी का नृत्य कोमल होने से लास्य कहा है। संगीत के ग्रन्थ रत्नाकर में स्वर की परिभाषा निम्न रूप में लिखी है—

श्रुत्यन्तर भावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रञ्जयति श्रोतृ-चित्तं स स्वर उच्यते ॥

ध्वनि का पर्यवसान नाद में होता है अतः अन्ततो गत्वा संगीत शास्त्र का अन्तिम ध्येय नाद का अनुसन्धान है। संगीत शास्त्र में कहा है--

"नाभेरूर्ध्वं हृदिस्थानान्मरुतः प्राण संज्ञकः।
नदति ब्रह्म रन्ध्रान्ते तेन नादः प्रकीर्तितः ॥
चैतन्यं सर्वभूतानां विवृतं जगदात्मनाम्।
नाद ब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे" ॥

अर्थात् नाभी से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त प्राण की जो ऊर्ध्व क्रिया है उसका नाम नाद है। जगत् के समस्त प्राणियों का चैतन्य नाद में ही विवृत्त है अतः हम नाद-ब्रह्म की उपासना करते हैं।

——:०:——

अहं की अखण्डरूपता

"शून्याकाराद्विसर्गान्ताद् विन्दोः प्रस्पन्द संविदः।
प्रकाश परमार्थत्वात् स्फुरत्ता लहरी युतात्।
प्रसृतं विश्व-लहरीस्थानं मातृत्रयात्मकम् ॥
(यो. हृ. च. सं. १०,११)

योगिनी हृदय में कहा है कि विश्वरूपिणी परमा-शक्ति अपनी इच्छा से जब आत्म-स्फुरत्ता का ईक्षण करती है तब विश्व से अभिन्न इच्छा-ज्ञान-क्रिया की समष्टि रूप प्राथमिकी शान्ता नामक वृत्ति का आविर्भाव होता है तथा तत्काल में ही चक्र की उत्पत्ति होती है। ग्रन्थकार का मत है कि इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक त्रिरूप ईक्षण ही विन्दु-चक्र की वासना अर्थात् सूक्ष्म रूप है। जैसा कि उपर्युक्त श्लोक में कहा है पांच विशेषणों से युक्त ब्रह्म के संयोग से विन्दु-चक्र की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म का प्रथम विशेषण है 'शून्याकारात्' शून्याकार से तात्पर्य है निराकार, दूसरा विशेषण है विसर्गान्तात् अर्थात जिसके अन्तः में नाना विधा सृष्टि का लय हुआ है, तीसरे विशेषण का तात्पर्य है वह विन्दु जिस से संवित् अर्थात् ज्ञान रूप जीव का उदय होता है। पारमार्थिक प्रकाशात्मक स्वरूप, तथा स्फुरत्तात्मक लहरी से युक्त ब्रह्म विश्व की उत्पत्ति का कारण है। इस प्रकार विशेषणों से युक्त ब्रह्म की शून्याकार तीन मातृकाएँ कही गई हैं जिन से विश्व-लहरी का प्रसार होता है। यहां विश्व को लहरी तथा उस वृत्ति को जिस से विश्व-लहरी की उत्पत्ति होती है समुद्र के तुल्य कहा है। इस प्रकार से सृष्टि-तरङ्ग एवं वृत्ति रूप समुद्र में अभेद का प्रतिपादन किया गया है तथा भासमान भेद को कल्पित कहा है। अतएव ब्रह्म के इतर रूप एवं विश्वात्मक रूप का सम्बन्ध स्थापित करने के हेतु कहा है:—

"अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंश पञ्चके ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् "॥

ब्रह्म के अस्ति, भाति, प्रियं, रूप एवं नाम यह पांच अंश कहे गये हैं जिन में प्रथम तीन ब्रह्म रूप हैं तथा शेष दो अर्थात् नाम एवं रूप जगद्रूप हैं। इस का रहस्यार्थ यह है कि अर्थ-सृष्टि एवं शब्द-सृष्टि की, अङ्कुर तथा उसकी छाया के समान युगपत परस्पर संपृक्त (श्लिष्ट) उत्पत्ति होती है। कवि कुल चूडामणि कालिदास ने रघुवंश में कहा है "**वागर्थाविव संपृक्तौ**", अर्थात् शिव-शक्ति वाक् एवं अर्थ के समान परस्पर संश्लिष्ट हैं। इसका सारार्थ है कि कारण-रूप ब्रह्म में, अर्थात् शिव-शक्ति के संश्लिष्ट रूप में अर्थ एवं शब्द उभय की संस्थिति है। पदार्थ मात्र शब्द से अनुविद्ध है यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। कहा है—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुबिद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते "॥

जैसा कि कहा गया है अकार शिव है एवं हकार शक्ति है—

"अकारः सर्व वर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः।
हकारोऽन्त्यः कलारूपः विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः"॥

यहां अकार एवं हकार अति स्पष्ट वैखरी रूप नहीं है अपितु सूक्ष्मतम स्वरूप हैं। वैखरी से भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम रूप मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा वाणी का है। श्रुति का कथन है "**गुहा त्रीणिनिहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति**"। श्रुति के अभिप्राय को दर्शाने के हेतु यहां योगिनी हृदय के उपर्युक्त श्लोकों में 'शून्याकारात्' आदि विशेषण दिये गये हैं। योगिनी हृदय की सेतु-बन्धु नामक टीका में भास्करराय ने प्रतिपादित किया है कि शून्यश्चासौ अकारश्चेति विग्रह के अनुसार 'शून्याकारात्' में कर्मधारय समास

है तथा त्रिसर्गान्तः में अन्तः शब्द का अर्थ है चरम अक्षर हकार अथवा **'अति अदि बन्धने'** धातु पाठ के अनुसार अन्तः शब्द का अर्थ वन्धक भी होता है अतएव अहं में हकारानुवद्ध अकार अर्थात् शक्ति रूप धर्म से अनुवद्ध शिव रूप धर्मी ऐसा अर्थ होता है।

दूसरी प्रकार से **"विसर्गान्तात्"** पद में विसर्ग को सोलहवां स्वर मान्य करने से यह अर्थ होता है कि विसर्ग अकार एवं हकार उभय रूप है तथा शून्याकार इसका विशेषण है अतएव इसका तात्पर्य है कि विसर्ग पद निराकार है। इस प्रकार अर्थ करने से अकार एवं हकार दोनों की ही शून्यरूपता सिद्ध हो जाती है। अकार एवं हकार उभय वर्णों की अखण्डता की प्रतीति होने से उनकी अखण्ड-ब्रह्म-रूपता सिद्ध होती है। **'शून्याकारात्'** उक्ति से अकार की एकविन्दुता तथा विसर्ग रूप हकार की विन्दुद्वयरूपता ध्वनित होती है। इस प्रकार अकार (अं) का एक विन्दू तथा अः (विसर्ग) के दो विन्दुओं को मिला कर विश्व-लहरी स्थान को मातृ-त्रयात्मक अर्थात् तीन मात्राओं से युक्त कहा गया है। **'विसर्गान्तात्'** पद में विसर्ग को सोलहवां स्वर मान्य कर लेने पर भी अन्तः शब्द के अर्थ की सहायता से तात्पर्य यही निकलता है कि प्रकाशतत्त्व विमर्श से अनुबद्ध है। इस का तात्पर्य है कि अकार एवं हकार का एक अखण्ड रूप है। सृष्टि क्रम में अंकार का ही प्रसार अः के रूप में हो जाता है इस प्रकार अहं का रूप सिद्ध होता है तथा प्रत्यावर्तन क्रम में अः (विसर्ग) का अं अर्थात् ब्रह्म विन्दु के अन्तर्गत लय हो जाता है अतएव अह + अं = अहं का रूप बनता है। इस प्रकार अहं की अखण्डरूपता का प्रतिपादन अभिनव गुप्त ने भी परात्रिंशिका की टीका में किया है।

इसका रहस्यार्थ भास्करराय ने सेतुवन्ध नामक योगिनी हृदय की टीका में कहा है कि स्त्री–पुरुष की सामरस्य दशा में, जब ब्रह्म-रन्ध्र स्थित शुक्ल विन्दु काम मन्दिर में प्रविष्ट शोण बिन्दू से एकाकार हो जाता है तब बाह्य एवं आन्तर भान से विहीन आनन्द मात्र अवशेष

ब्रह्म का ही भास होता है। यह अनुभव से सिद्ध है। इसी आशय का श्रुति निर्वचन करती है **"यथा प्रियया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्"**।। सुषुप्ति दशा में अज्ञान वृत्ति का अवस्थान रहता है किन्तु सामरस्य दशा में अज्ञान की स्थिति भी समाप्त हो जाती है। ऐसी सामरस्य अवस्था में निष्ठित आनन्द के अन्तर्गत गर्भोत्पादक स्थिति उत्पन्न होती है। लौकिक प्रक्रिया के समान ही अलौकिक प्रक्रिया का ज्ञान है अर्थात् शिव-शक्ति की सामरस्य अवस्था में ही विश्व की उत्पत्ति कही है।

इस प्रकार शोण विन्दु के साथ जब काम विन्दु का परस्पर अनुप्रवेश हो जाता है तब विन्दुद्वय को विसर्ग अथवा हकार अथवा विमर्श नाम से सम्बोधित किया जाता है केवल शिव अथवा केवल शक्ति से सृष्टि संभव नहीं है। इसी लिये शिव-शक्ति के सामरस्य स्वरूप पर शिव के पर्याय पर भैरव (अं) को परम सत्य अङ्गीकार किया गया है। जिस प्रकार धान के केवल तुष से अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं होती है और न केवल तण्डुल से उत्पत्ति होती है अपि तु तुष एवं तण्डुल दोनों की धान के रूप में जब स्थिति होती है तभी अङ्कुर की उत्पत्ति होती है इसी प्रकार केवल शिव अथवा केवल शक्ति से सृष्टि का प्रसार सम्भव नहीं है। अतएव शिव-शक्ति के वाचक अकार एवं हकार के अखण्ड रूप अहं से ही विश्व की सृष्टि का निरूपण तन्त्र शास्त्र में किया गया है। अतः गुरु का कर्तव्य है कि आदि एवं अन्त्य अक्षरों का निवेदन करें।

अहं के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर जीव बन्धन से मुक्त हो जाता है। श्रुति कहती है— **तस्मादहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते।** अन्यत्र भी कहा है **"वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्त कृत वेद विदेव चाहं"**। अर्थात् अनेकों वेदों में अहं तत्त्व ही वेद्य है तथा वेदान्त शास्त्र में भी अहं ही ज्ञातव्य है। श्रुति के यह विधि वाक्य हैं। इस के सम्बन्ध में प्रतिशेधात्मक वाक्य भी हैं—**यो अन्यां देवतामुपासते अन्योऽ-**

सावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः"। अर्थात् जो अन्य देवता की उपासना करता है तथा ऐसा जानता है कि यह देवता अन्य है तथा अहं (अर्थात् मैं) अन्य हूं वह पशु है। अतएव आदेश है कि **"त्वं वा अहमस्मीति भगवो देवते अहं वै त्वमसि"।** अर्थात् त्वं एवं अहं में तादात्म्य का प्रतिपादन है। आगम शास्त्र में भी कहा है—

"स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेकमेव महेश्वरः।
चित्स्वरूपोऽहमहममित्यखण्डामर्शं वृंहतिः॥

अर्थात् चित् स्वरूप विमर्श एक अखण्ड परामर्श है।

—:०:—

विश्व की उत्पत्ति

शिव के पर्याय प्रकाश, चित्, ज्ञान आदि शब्द हैं तथा शक्ति के पर्याय विमर्श, अचित्, क्रिया आदि शब्द हैं। गुरु रूप सामरस्यात्मक पर–शिव के अन्तः में ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति अनुन्मीलित अवस्था में स्थित रहती है। परम शिव का यह पूर्ण स्वरूप है। चित्–सुधा समुद्र परम शिव के किञ्चित् स्पन्दन से (अकार से हकार पर्यन्त वर्णों के प्रत्याहार से कल्पित) अहमात्मक चिन्मय स्रोत का विकास प्रथम होता है। पराहन्ता ही वर्णों का मूल कारण है। अतएव अहं के विकास के अनन्तर परम–शिव की (परस्पर अविभिन्न ज्ञान–क्रिया रूप) इच्छा से दो विभिन्न सरिताओं का प्रवाह होता है। ज्ञान–सरित से चित्त–बुद्धि आदि लक्षण से लक्षित अन्तःकरण का प्रसार होता है। अन्तःकरण से ज्ञानेन्द्रिय प्रणाली का निर्गमन होता है। क्रिया नामक अन्य स्रोत से दश विध प्राण का प्रसार तथा प्राण से कर्मेन्द्रियों की प्रणाली का निर्गमन होता है। जैसा कि निरूपित किया गया है कि ज्ञान के बिना क्रिया नहीं है तथा क्रिया के बिना ज्ञान नहीं है। दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। तथापि शैव, वेदान्ती, सांख्य, तार्किक आदि विचारकों ने चिदार्णव रूप शिव को प्राप्त करने का उपाय केवल ज्ञान को ही प्रतिपादित किया है। पातञ्जल हठयोगी एवं मीमांसकों ने केवल क्रियाशक्ति के द्वारा शिवत्व प्राप्ति के उपाय का निर्णय किया है। परन्तु भगवान भैरव ने परा, पश्यन्ती आदि वाक् चतुष्टय के स्पन्दात्मक स्रोत से अकार से हकार पर्यन्त वर्णों की सृष्टि की इच्छा से, भैरवी के प्रश्न के रूप में अनुत्तर नामक ज्ञान–क्रियात्मक मार्ग का उपदेश किया है। यह मार्ग राजयोग नाम से भी विख्यात है। श्रुति ने भी **"चत्वारि वाक् परिमिता....तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति"** के द्वारा यही उपदिष्ट किया है। ज्ञान–क्रिया के अविभिन्न मार्ग का प्रतिपादन करने के हेतु ही भैरवी एवं भैरव के प्रश्नोत्तर के रूप में तन्त्रात्मक त्रिक शास्त्र को परा–त्रिंशिका नामक ग्रन्थ में अवतरित किया गया है। अन्य आगम ग्रन्थ भी शिव–शक्ति, अथवा सदाशिव शक्ति आदि के प्रश्नोत्तर के रूप में निबद्ध है। परा त्रिंशिका में कहा है—

"अनुत्तरं कथं देव सद्यः कौलिक सिद्धिदम् ।
येन विज्ञानमात्रेण खेचरी समतां व्रजेत्" ॥

यहां देवी प्रश्न कर्तृ हैं तथा भगवान भैरव उत्तर दाता हैं। देवी का प्रश्न है कि हे देव अनुत्तर किस प्रकार अविलम्ब कौलिकी सिद्धि को प्रदान करता है।

अनुत्तर का अर्थ है जिस से उत्कृष्ट और कुछ नहीं है। तेज एवं तम रूप द्वन्द्व के अन्तः में जो ज्योति विराजमान है उसका नाम अनुत्तर है। यह अनुत्तर तत्त्व स्वप्रकाश चिद्रूप संवित् है। अनुत्तर चिद्रूप से किस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय प्रणाली की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति तथा संहार होता है यह प्रश्न है? जो चित् एक रूप अनुत्तर पद है वह किस प्रकार नवीन नवीन वेद्य, वेदन, एवं वेदक रूपों में अवभासित होता है तथा इस के ज्ञान मात्र से किस प्रकार बोध भूमि संचारिणी खेचरी संवित् शक्ति भैरव के समत्व अर्थात् अविकल्पत्व एवं पूर्णत्व को प्राप्त कर लेती है। उपर्युक्त श्लोक में सिद्धिदं शब्द में दा धातु का अर्थ दान भी है तथा अवखण्डन भी है। अतः यहां अनुत्तर से सृजन एवं संहार दोनों प्रकार की सिद्धियों का सम्बन्ध है। यह सृष्टि एवं संहारात्मक कौलिकी सिद्धि ही क्रम तथा अक्रम सिद्धि के नाम से विख्यात हैं।

भगवान भैरव के हृदय में स्थित होने से यह कौलिनी शक्ति अत्यन्त गुह्य है तथा स्वप्रकाश भी है। शक्ति ग्राह्य, ग्राहक एवं ग्रहण चक्र के रूप में प्रकट होती है। ग्राह्य–ग्राहक–ग्रहण चक्र का नाम कुल है। इस कुल का संवेदन, अवभासन एवं संहार ही स्वातन्त्र्य रूपा संवित् शक्ति का प्रयोजन है अतः कौलिकी नाम से व्यवहृत शक्ति को कुल की अधिष्ठातृ होने से कुलनायिका कहा जाता है। कहा है—

"एतद गुह्यं महागुह्यं कथयस्व मम प्रभो।
हृदयस्था तु या शक्तिः कौलिनी कुलनायिका ॥
तां मे कथय देवेश येन तृप्ति व्रजाम्यहम्" ॥

यहां देवी ने तृप्ति अर्थात् भुक्ति एवं मुक्ति उभय को प्राप्त करने के हेतु यह प्रश्न किया है। तन्त्र शास्त्र भोग एवं मोक्ष दोनों का देने वाला है। कहा है **"भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव"** अतएव जो प्रबुद्धचमान संवृत प्रश्न कर्तृ के रूप में अपने परमार्थ स्वरूप को प्रकट करती है वही वह प्रबुद्ध अवस्था का ज्ञान होने पर भैरवात्मक पूर्णत्व प्राप्त कर प्रति-वचनदात्री के रूप में भी प्रकट होती है। अर्थात् तात्पर्य यह है कि एक ही वस्तु प्रश्न कर्ता भी है तथा उत्तरदाता भी है। वही गुरु रूप है तथा वही शिष्य रूप है। यहां न देवी की प्राथमिकता है और न ही भैरव की, अपितु काल की भेदात्मक कल्पना के कारण परम आवर्तमान तत्त्व ही पुरातन के समान भासने लगता है। अर्थात आवर्तमान देवी ही अपना पुरातन भैरवत्व रूप धारण कर लेती है। पहिले तथा पीछे की कोई कल्पना संभव नहीं है। भैरव एवं शक्ति का यह सतत प्रवाह है जिस को प्रश्न कर्ता एवं उत्तरदाता के रूप में कल्पित किया गया है। जिस प्रकार जल से लहरों का प्रवाह एवं वन्हि से ज्वालाओं की भङ्गिमा तथा सूर्य से किरणों का निर्गमन होता है उसी प्रकार भैरव से विश्व लहरी का प्रसार होता है। कहा है—

"जलस्येवोर्मयो वह नेर्ज्वाला भंगय प्रभारवेः।
ममेव भैरवस्यैता विश्व भंगयो विनिर्गताः॥
आत्मनो भैरवं रूपं भावयेद्यस्तु पूरुषः।
तस्य मन्त्राः प्रसिध्यन्ति नित्य युक्तस्य सुन्दरि" ॥

योग वाशिष्ठ में निर्वाण प्रकरण के अन्तर्गत पाषाणोपाख्यान में वशिष्ठ जी ने ब्रह्मा जी से विद्याधरी के जन्म एवं विवाह के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उसके उत्तर में ब्रह्मा जी ने विद्याधरी के जन्ममात्र का सम्पादन स्वीकार किया, शेष विवाह आदि की वासना को विद्याधरी द्वारा कल्पित मिथ्या घोषित किया तथा अज्ञान की निवृत्ति के हेतु स्वयं की उत्पत्ति के कारण का निरूपण करते हुए कहा कि हे वशिष्ठ जी ऐसी कोई मुख्य वस्तु है जो अज, शान्त, अजर तथा त्रिकाल में बाधित नहीं

होती है। इसी का नाम चिति है। चिति के स्वरूप के प्रकाशन मात्र से मेरा आविर्भाव हुआ है। वस्तुतः मैं चिदाकाश रूप हूँ, किन्तु उत्पत्ति का कारण रूप होने से स्वयंभू नाम से कहा जाता हूँ। तात्त्विक दृष्टि से न मैं उत्पन्न हुआ हूँ और न ही दृष्टा हूँ। चिदाकाश रूप हूँ तथा चिदाकाश में ही स्थित हूँ। यह जो त्वं एवं अहं अर्थात् मेरा तथा आपका प्रश्नकर्ता एवं उत्तरदाता के रूप में परस्पर संवाद है वह इस प्रकार है जैसे एक ही समुद्र में एक तरङ्ग के आगे दूसरी तरङ्ग का आवागमन होता है तथा तरङ्गों के परस्पर आघात से ध्वनि का प्रादुर्भाव होता है। आवागमन के इस प्रवाह में तरङ्गों का पूर्वापर क्रम निर्धारित नहीं किया जा सकता। आगमन में जो तरङ्ग प्रथम है प्रत्यावर्तन में वही तरङ्ग अन्तिम हो जाती है। अतएव कौन तरङग आगे एवं कौन पीछे है यह निर्णय असम्भव है। ठीक इसी प्रकार प्रश्न कर्तृ देवी एवं उत्तरदाता भैरव का पौर्वापर्य क्रम निर्धारित करना सम्भव नहीं है। प्रश्न कर्ता के रूप में प्रादुर्भूत भगवती भैरवी ही भैरव रूप धारण कर उत्तरदाता कही जाती है तथा भगवान भैरव ही भैरवी के रूप में प्रसृत होकर प्रश्न कर्ता होते हैं। निर्विकल्प अवस्था में भैरव के अन्तः में भैरवी का अवस्थान रहता है। वही सविकल्प रूप धारण कर विश्वलहरी के रूप में प्रकट होती हैं। कहा है—

"अस्ति तावदजं शान्तमजरं किञ्चिदेव सत्।
ततश्चित् कचनैकान्त रूपिणा कचितोऽस्म्यहम्॥
आकाशरूप एवाहं स्थित आत्मनि सर्वदा।
भविष्यति स्थिते सर्गे स्वयंभू इति नाम मे॥
वस्तुतस्तु न जातोऽस्मि न च पश्यामि किञ्चन।
चिदाकाशः चिदाकाशे तिष्ठाम्यहमनावृतः॥
यदयं त्वं महाहन्ते यदिदं कथनं मिथः॥
तत्तरङ्गात्तरङ्गाग्रे रणतीवेति मे मतिः।
(योग वाशिष्ठ एवं तात्पर्य प्रकाश व्याख्या)

जैसा कि परात्रिंशिका में प्रतिपादन किया गया है कौलिकी विधि का, शिव से क्षिति पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों के रूप में विकषित होने से पूर्व, भैरव अर्थात् अनुत्तर तत्त्व के हृदय में संवेदन होता रहता है जहां वह चिदात्म रूप में स्थित रहती है। इसी संवेदनात्मक शक्ति को श्रुति में ईक्षणात्मिका शक्ति के नाम से प्रतिपादन किया गया है। यथा **"एकमेवाद्वितीयं"**, तदैक्षत आदि।

भैरव के हृदयस्थ संवेदन से ही पदार्थ का प्रकाशन होता है। यह पदार्थ (पद+अर्थ अर्थात् शब्दार्थ) स्वभाव से ज्ञाता एवं ज्ञेय रूप है। उन्मेष एवं निमेष अर्थात् संकोच–विकास रूप ज्ञान–क्रिया से जो आत्म–परिस्पन्द होता है उस के सार का नाम ज्ञातृता है। संकोच एवं विकास से आविर्भूत यह स्पन्द अजड एवं जड भेद से दो प्रकार का है। यहां प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अपरिच्छिन्न अजड का संकोच एवं विकास तो स्वीकार किया जाता है किन्तु परिच्छिन्न रूप घट पाषाण आदि के संकोच–विकास का योग सम्भव नहीं है। यहां अजड एवं जड के शास्त्रीय लक्षण पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाएगा कि अजड एवं जड कोई भिन्न पदार्थ नहीं हैं, अपितु इच्छा–ज्ञान–क्रिया रूप त्रिकोण जैसे जैसे हृदय में स्फुट होता है वैसे ही वैसे ज्ञातृत्व का उत्कर्ष होता है, तथा बाह्य रूप के विकास होने पर त्रिकोणात्मक संवित् की जैसे जैसे न्यूनता होती जाती है वैसे ही वैसे ज्ञातृता का अपकर्ष एवं जडत्व का उत्कर्ष होता है। अर्थात् एक ही वस्तु में त्रिकोण भाव के उत्कर्ष एवं अपकर्ष के कारण जडत्व एवं अजडत्व का संकोच एवं विकास होता है। मातृका चक्र विवेक में योगी स्वतन्त्रानन्द नाथ ने प्रतिपादन किया है कि ज्ञान के घनीभाव से क्रिया का तथा क्रिया की विरलिमा से शब्द का आविर्भाव होता है—

ज्ञानं गृहीत कठिनत्वगुणं क्रिया स्यात्।
ज्ञानं भवेद्विरलिमाश्रयणी क्रियैव॥"

तात्पर्य यह कि जड पाषाण आदि पर्यन्त संकोच–विकासात्मक विसर्ग ही स्वातन्त्र्यात्मा भगवान् अनुत्तर अर्थात भैरव की शक्ति है।

विसर्ग के साथ भैरव अर्थात् अः का संघट्ट होता है ? अर्थात् विलोम क्रम से पाठ करने पर विसर्ग जब बिन्दु में समाविष्ट हो जाता है तब इस संघट्ट को ही शिव–शक्ति का पारमार्थिक रूप कहा गया है जिसको रुद्र–यामल नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। शिव–शक्ति के इस पार–मार्थिक रूप से ही विश्व का उदय तथा इस में ही प्रलय होता है।

——:०:——

भैरव का शब्द राशिमय रूप

प्राण के संकोच एवं विकास के योग के मध्य में अनुत्तर, आनन्द, इच्छा, ईशना, उन्मेष, ऊनता अर्थात् अ, आ, इ, ई, उ ऊ, का विकास होता है, तथा इच्छा एवं ईशना के अस्फुट एवं स्फुट वेद्यात्मक उल्लास से ऋ, ॠ, ऌ एवं ॡ का आविर्भाव होता है। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ स्वरों का नाम क्रमश: अनुत्तर, आनन्द, इच्छा, ईशना, उन्मेष, ऊनता है। इच्छा की अनुत्तर के साथ, (अ + इ) एवं ईशना की आनन्द के साथ (आ + ई) सन्धि होने पर ए, ऐ का स्वरूप बनता है। इसी प्रकार अ की उ के साथ एवं आ की ऊ के साथ सन्धि होने से ओ एवं औ के स्वरूप का आविर्भाव होता है।

अकार से औकार पर्यन्त वेद्यात्मक स्वरों की उत्पत्ति के अनन्तर वेदकात्मक शेष संस्कारों के पूर्ण होने पर परिपूर्ण विन्दु के स्वरूप का आविर्भाव होता है। यहां बिन्दु के अन्तर्गत पूर्णानन्द चिद्रूप विसर्ग शक्ति का अन्तर्भाव रहता है अतएव बिन्दु (अ) को पर-भैरव-यामल नाम से सम्बोधित किया गया है। तात्पर्य यह कि बिन्दु के अन्त: में विसर्ग शक्ति का समावेश रहता है अतएव विन्दु का यह स्वरूप बिन्दु एवं विसर्ग दो तत्त्वों के सामरस्य का रूप है। यहां अ से अं पर्यन्त पञ्चदश स्वरों में विसर्गरूपता इतनी सामान्य है कि पृथक् से इसकी गणना सम्भव नहीं है। अर्थात् बिन्दु के अन्त: में विसर्ग शक्ति इस प्रकार एक रस रहती है कि इस के पृथक् अस्तित्व का पर्यालोचन सम्भव नहीं है। इसी लिये शास्त्र में कहा है कि कौलिकी विधि का भैरव के हृदय में संवित् अर्थात् ज्ञान रूप तादात्म्य है।

विन्दु के स्वरूप के उदय होने के अनन्तर इदं परामर्श की महिमा से अकार से बिन्दु पर्यन्त स्वर परमानन्द स्वरूप विसर्ग-चन्द्र की स्थिति को परिपूरित करते हैं अत: तिथियों के रूप में इनको व्यवहृत किया

जाता है। इस प्रकार बोधचन्द्र रूप प्रकाशानन्दमय अनुत्तर विसर्ग तत्त्व की विमर्श शक्ति का स्वरूप पञ्च दश तिथियों से पूरित होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शुक्ल पक्ष में पन्द्रह तिथियां पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र का पोषण करती हैं उसी प्रकार तिथियों के रूप में निरूपित अ से अं पर्यन्त स्वरों के द्वारा षोडशी कला के रूप में विसर्ग रूप चन्द्र की स्थिति की पूर्ति की जाती है। ये स्वर शब्दात्मक होने से परमार्थ स्वरूप हैं, अतएव जगत् की अपेक्षा स्वयं प्रकाशनशील हैं, तथा सूर्य, चन्द्र के समाने स्वयं संकोच-विकास रूप है अतः बिन्दु-द्वयात्मक विसर्ग का स्वरों के अन्तर्गत स्थान निर्धारित है। स्वरों के अन्तर्गत वर्णों के उच्चारण के मध्य में काल के योग से अर्थात् कलनात्मक सूक्ष्म शक्ति के योग से सोम सूर्य अर्थात् प्राणापान की स्थिति होती है जो वर्णों की प्रवृत्ति का कारण है।

स्वरों में काल के योग से परामर्श का आविर्भाव होता है। अतएव परामर्श का स्वरूप स्पन्दनात्मक है न कि अचल जड रूप। बाह्य जगत में भी सोम-सूर्य का रात्रि-दिवस के रूप में संकोच-विकास होने से पन्द्रह तिथियों के अन्तर्गत ही संचार होता है। भगवती परामर्श शक्ति के स्वरूप का इस प्रकार निरूपण किया गया है।

इच्छा एवं ईशना के अन्तर्गत ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, के रूप में वेद्य का जो उल्लास होता है उस के भेदात्मक स्वरूप के स्थूल रूप से पञ्च भूतात्मक, तथा सूक्ष्म रूप से पञ्च तन्मात्रिक तत्त्वों का उद्रेक होता है। यह दशतत्त्व पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श शब्द हैं। उसी वेद्य का जब करण अर्थात् इन्द्रियों के रूप में उल्लास होता है तब भी इन्द्रियों के उल्लास का यह स्वरूप स्पन्दनात्मक होता है न कि अचल जड रूप। बाह्य जगत् में भी सोम-सूर्य का रात्रि एवं दिवस के रूप में संकोच-विकास होने से पन्द्रह तिथियों के अन्तर्गत ही संचार होता है। इस प्रकार भगवती परामर्श शक्ति का यह स्वरूप है। संकोच-विकास को सूर्य-चन्द्र कहा गया है जो प्राण एवं अपान का रूप है। वर्णों की प्रवृत्ति का कारण प्राणापान हैं।

इच्छा एवं ईशना के अन्तर्गत ऋ, ॠ, ऌ ॡ के रूप में वेद्योल्लास होता है वह भेदात्मक है उसका स्थूल रूप से पञ्चभूतात्मक तथा सूक्ष्म रूप से पञ्च-तन्मात्रिक दश तत्त्वों के रूप में उद्रेक होता है। यह दश तत्त्व पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द हैं। उसी वेद्य का जब करण अर्थात् इन्द्रियों के रूप में उल्लास होता है तब क्रिया-शक्ति की प्रधानता से उपस्थ, पायु, पाद, पाणि वाक् आदि कर्मेन्द्रियों की सृष्टि होती है तथा ज्ञान शक्ति की प्रधानता से घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र नामक ज्ञानेन्द्रियों का उदय होता है।

प्रथम वेद्य का तदनन्तर वेदक का उल्लास होता है। इस क्रम के अनुसार वेदनात्मक आभास के उल्लास के अन्तर्गत मन, अहंकार, बुद्धि, प्रधान एवं पुरुष की सृष्टि होती है। उपर्युक्त क्रम के अनुसार क से म पर्यन्त वर्ण क्रमशः पृथ्वी से पुरुष पर्यन्त तत्त्वों के वाचक हैं। अर्थात् अकार से विसर्ग पर्यन्त शिव तत्त्व, क से ङ पर्यन्त पांच वर्णों से पृथ्वी से आकाश पर्यन्त पञ्च तत्त्वों का, च से ञ पर्यन्त वर्णों से गन्ध से शब्द पर्यन्त तन्मात्राओं का, ट से ण पर्यन्त वर्णों से कर्मेन्द्रियों का, त से न पर्यन्त वर्णों से ज्ञानेन्द्रियों का, तथा प से म पर्यन्त वर्णों से मनो, अहंकार, बुद्धि, प्रधान पुरुष का बोध होता है। वर्ण एवं तत्त्वों का वाच्य वाचक सम्बन्ध है अतएव वर्णों की सर्वात्मकता प्रतिपादित की गई है।

पुरुष के अनन्तर य, र, ल, व वर्णों से वाच्य वायवी, आग्नेयी, वारुणी, ऐन्द्री धारणा का विकास होता है। कला वायु का रूप है। कला के योग से आत्मा का स्वरूप संकुचित हो जाता है, तथा आत्मा (पुरुष) में सर्वकर्तृत्व का ह्रास हो जाता है तथा अल्पकर्तृत्व शक्ति ही पुरुष की प्रेरिका बन जाती है। आग्नेयी अर्थात् तेज-रूपा अशुद्ध-विद्या के प्रभाव से पुरुष अपने सर्वज्ञ स्वरूप से च्युत होकर अल्पज्ञता का अनुभव करता है, तथा अल्पज्ञ अणु रूप में जगत् का प्रकाशक होता है। सलिल रूपा माया से पुरुष अपने स्तम्भन स्वभाव से वञ्चित होकर निमज्जनात्मक भाव धारण करता है। चौथी धारणा पृथ्वीरूपा है जिसको राग

शक्ति के नाम से सम्बोधित किया जाता है, राग शक्ति से असङ्ग पुरुष में विश्व के प्रति किञ्चित् सङ्ग उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार प्रतिपादन करने से विदित होता है कि उपर्युक्त धारणाओं के कारण अणु पुरुष की स्थिति मध्यवर्ती है अर्थात् पूर्णत्व का न तो सर्वथा अभाव है और न ही सर्वथा जडत्व का पूर्णतया प्रादुर्भाव है। अतः इस स्थिति को त्रिशङ्कु की स्थिति कहा जा सकता है आचार्य अभिनव के अनुसार यह शक्तियां धारणा के नाम से इस कारण सम्बोधित की जाती हैं कि यह पुरुष को त्रिशङ्कु के समान धारण करती हैं अन्यथा धारणा शक्ति के विना अणु पुरुष का या तो जड भूमि में पतन हो सकता है अथवा परमेश्वर के समान संवित् गगन में उत्थान हो सकता है। यथा–

"**ता एताश्चतस्त्रः शक्तयः पुरुषं धारयन्ति मध्ये त्रिशङ्कुवद् विश्राम-यन्ति, अन्यथा पाषाणादिवत् जड भूमिमेवापतेत्परमेश्वरवद्वा संविद्ग-गनमेवापतेत्**"। ऊर्ध्व अथवा अधः उभयथा पतन में माया-प्रमातृत्व का अभाव हो जाने से वेद्य (विश्व) का भी अभाव हो जावेगा तथा संकोच के विना विकास का योग भी असम्भव है। अतएव सिद्ध है कि इदं अर्थात् जगत् के रूप में सर्वत्र संकोच–विकासात्मक विसर्ग का ही विक्षेप है। वेदान्त शास्त्र के समान आगम शास्त्र ने भी विक्षेप एवं आवरण शक्तियों को स्वीकार किया है। (अनुत्तर विमर्शनी)

——:०:——

धारणा-शक्ति

योग की भूमिकाओं के रूप में धारणा का विशेष माहात्म्य है। देह व्यापक सूर्य रूप प्रणव के चिन्तन का नाम पार्थिवी धारणा है। दक्षिण पाद के अङ्गुष्ठ से उत्थित कालाग्नि की ज्वालाओं से बाह्य एवं आन्तर देह की भस्मीभूतत्व भावना को आग्नेयी धारणा कहा है। आग्नेयी धारणा से भस्मसात् कृत शरीर की भस्म को दशों दिशाओं में वायु के द्वारा विकीर्ण (विखेरना) करने का भाव वायवी धारणा है। द्वादशान्त अर्थात् सहस्रार से ऊपर शिव वक्त्र से झरे हुए अमृत से उस स्थान को प्रक्षालित करने की भावना, एवं तदतनन्तर व्योम स्थित कुण्डलिनी के साथ जीव की प्राण प्रतिष्ठा तथा अमृत के सहित हृदय प्रदेश में पुनः अवतरण को वारुणी धारणा निरूपित किया गया है।

(परात्रिंशिका की लक्ष्मीराम कृत विवृति के अनुसार)

धारणा तथा उनके वाचक यदि चतुष्टय के अनन्तर श, ष, स, ह, क्ष पांच वर्णों का स्थान है जो ब्रह्म पञ्चक के नाम से विख्यात है। य, र, ल, व क्रमशः स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के द्योतक हैं इन के ऊपर आकाश का स्थान है। आकाश शक्ति का माया तत्त्वात्मक प्रमातृता के आधान से प्रयोजन नहीं है। अर्थात् माया प्रमातृत्व का क्षेत्र आकाश शक्ति के क्षेत्र से नीचे है। जब आकाश शक्ति पुरुष में अन्तर्लीन रहती है तब पुरुष का स्वरूप यद्यपि वेद्य से शून्य होता है तथापि उस पुरुष में वेद्य के रूप में आकाश को ग्रहण करने की सहिष्णुता होती है अतएव पुरुष का प्रमातृत्व यथावत स्थित रहता है इस कारण आकाश शक्ति वस्तुतः पुरुष की नित्या विमर्श शक्ति सिद्ध है। जब वेद्यता का क्रम से आच्छादन होता है तथा संवित् के स्वरूप का उदय होता है तब उस पुरुष के स्वरूप का ही पोषण होकर उसका प्रकाशक के रूप में आविर्भाव होता है। उस अवस्था में पुरुष के रूप में ही, सर्वत्र व्याप्त,

परम स्वातन्त्र्य के स्पन्द का लाभ होता है। इस प्रकार स्पन्दित ब्रह्म स्वरूप के पूरक व्यापक वर्ग के श, ष, स, ह, क्ष वर्णों का विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति, शिव के वाचक के रूप में उदय होता है। विद्या आदि पांच तत्त्व सूक्ष्मात्मक पृथ्वी, अप्, तेज, वायु आकाश के रूप हैं। सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष एवं ईशान रूप ब्रह्म पञ्चक के बोधक श से क्ष पर्यन्त पांच वर्ण हैं अतएव यह वर्ण ब्रह्म पञ्चक के नाम से विख्यात हैं। इस प्रकार, जैसा कि ऊपर निरूपण किया गया है, यह सब परापर रूप विसर्ग शक्ति का स्वरूप है। यह विसर्ग शक्ति आद्या अर्थात् अकार शक्ति से ब्रह्म पञ्चक पर्यन्त विकसित है। यह अविच्छिन्न रूप में निबद्ध, शक्ति चक्र भगवान भैरव का स्वरूप है।

अनुत्तर, इच्छा, उन्मेष से घटित त्रिकोणात्मक विसर्ग शक्तियां ही चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियों के रूप में विकसित होती हैं। इन पञ्च शक्तियों से ही अविभागात्मक परामर्श के रूप में वर्णों का उदय होता है, तदनन्तर विभागात्मक परामर्श से विमर्श रूप पचास वर्णों के तत्त्व जाल का बाह्यतः प्रसार होता है।

(आचार्य अभिनव कृत अनुत्तर विमर्शनी)

भगवान भैरव के अनुत्तर रूप स्वातन्त्र्य से ही पूर्व में अविभागात्मक परामर्श रूपा हृदयस्थ शक्ति ही विभागात्मक–परामर्शता अर्थात् कौलिक रूपता को प्राप्त होती है।

अकार से क्षकार पर्यन्त वर्णों की उपर्युक्त सृष्टि-क्रम का मूल अर्थात् समवायि कारण अकार है। अतएव अकार को सर्व वर्णात्मक प्रतिपादित किया गया है। श्रुति का कथन है:— "**अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यंज्यमाना बह्वी नाना रूपा भवति**" तथा गीता में भी कहा है "**अक्षराणामकारोऽस्मि**"। परात्रिंशिका में कहा है "**अकारमूला तत्क्रमाज्ज्ञेया, क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता**"। इच्छा एवं ज्ञान के अर्थात् इ एवं उ के अन्तः में जब अकार अर्थात्

अनुत्तर पद का लय हो जाता है तब इसका अस्तित्व केवल बिन्दु मात्र शेष रहता है। बिन्दु का उच्चारण पृथक् से सम्भव नहीं है अतः अकार के बिन्दु मात्र स्वरूप की अर्थात् अं, अः की अकार के ही आश्रय से उच्चारण की व्यवस्था है। अतएव उपनिषद् का उपदेश है कि अकार से ही बिन्दु-विसर्ग रूप बहिः स्पन्द होता है, तथा सकल संसार की कलाप भूत पञ्च भूतात्मक उत्पत्ति भी अकार से होती है एवं सकल संसार की अवबोधक मातृका शक्ति का उदय अकार से ही होता है एवं विश्रान्ति स्थान भी अकार ही है। व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण भी अकार के बिना सम्भव नहीं है। अतः स्वररूप अकार को अन्तर्यामी कहा है— "**अकारः सर्ववर्णानामन्तर्यामितया स्थितः**"।

यह अ से क्ष पर्यन्त वर्णमाला समस्त मन्त्र समुदाय एवं विद्या तत्त्वों की योनि अर्थात् उत्पत्ति का कारण है। महार्थ मञ्जरी में कहा है:--

"मननमये निज विभवे, निज संकोचमये त्राणमयी।
कवलित विश्व विकल्पा अनुभूतिः कापि मन्त्र शब्दार्थः॥"

एवं परात्रिंशिका में भी कहा है--

"अमूला तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता।
सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानां च यशस्विनी।
इयं योनि समाख्याता सर्व तन्त्रेषु सर्वथा"॥

——:०:——

अहं मंत्र का निरूपण

विभागात्मक परामर्श (ज्ञान) के रूप में प्रतिपादित कौलिकी विधि अर्थात् अकार से क्षकार पर्यन्त वर्णमाला आगम शास्त्र में महा मन्त्र के नाम से विख्यात है। इस महा मन्त्र का भी सार अहं मन्त्र है। परात्रिशिका में कहा है —

"चतुर्दशयुतं भद्रे तिथीशान्त समन्वितम्।
तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि हृदयं भैरवात्मनः"॥

अर्थात् इच्छा-ज्ञान से युत, एवं ग्राह्य राशि से विलक्षण सदाशिव नाम से विख्यात तृतीय ब्रह्म के अन्तः में जब विसर्ग शक्ति का पूर्णतया अभेदात्मक समन्वय हो जाता है उस अवस्था को अहं नाम से व्यवहृत किया जाता है।

अन्यत्र भी कहा है **"जगदहंतया पश्यन सदाशिवः"**। यह अहं ही विश्वात्मक शब्द राशि रूप भगवान भैरव का हृदय अर्थात् सार है। जिस प्रकार त्वचा, मांस आदि भागों में विभक्त सर्व तत्त्वमय शरीर का, अविभक्त प्रकाश-विमर्शमय विश्रान्ति स्थल हृदय नाम से व्यवहृत होता है उसी प्रकार भगवान भैरव के भुवन आदि तत्त्वों में विभक्त विश्वरूप परामर्श के सारभूत पचास वर्णों से युक्त शरीर का साररूप विश्रान्ति स्थल अहमात्मक अविभक्त परामर्श है, जो हृदय नाम से शास्त्र में सम्बोधित है। कहा है—

"प्रकाशस्यात्म विश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः॥

(इच्छा-ज्ञान-क्रिया) शक्तित्रय गत, अनवरत संकोच-विकासात्मक, त्रिकोणपरिस्पन्द का स्वरूप यह हृदय भैरवात्मक भगवान भैरव की

आत्मभूत अभिन्न श्री परा देवी का तत्त्व है। अनुत्तररूपा संवित् का, प्रथम स्वर कोटि में, स्वरूप-विश्राति तत्त्व के रूप में परिस्पन्द होता है, तदनन्तर स्पन्द के प्रभाव से मध्य कोटि में विभाग परामर्शात्मक सृष्टि रूप उदय होता है। अहं मन्त्र परावाग् रूप सर्वव्यापक, चित्प्रकाशक भैरव का हृदय अर्थात् सार है।

जिसको अहं बीज का लाभ अर्थात् साक्षात्कार हो जाता है वह लाभ काल में ही पशुत्व से मुक्त हो जाता है कारण यह कि हृदयात्मक अहं के स्वरूप का लाभ होने पर साधक स्वयं भगवान भैरव के हृदय के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस हृदयता का नाम ही भैरवत्व है।

अहं मन्त्र का स्वरूप रुद्र एवं योगिनी के विना सिद्ध नहीं होता है परा त्रिंशिका में कहा है:—

"एतन्नायोगिनी जातो नारुद्रो लभते स्फुटम्।
हृदयं देवदेवस्य सद्यो योग विमोक्षदम्॥"

रुद्रांश का अर्थ है प्रत्यासन्न भैरवी भाव तथा योगिनी का अर्थ है देहाहं भाव की समाप्ति एवं चित् की प्रधानता। तात्पर्य यह कि जब तक चिदात्म संवित् एवं भैरव के यामल स्वरूप का युगपत् उन्मीलन नहीं होता है तब तक हृदयत्व की सिद्धि नहीं होती है। हृदय का साक्षात्कार हो जाने पर साधक की जीवित अवस्था में ही मुक्ति हो जाती है। अर्थात् वह जीवन—मुक्त हो जाता है। जब संवित् प्राण, बुद्धि आदि भूमियों तक ही सीमित रहती है तब तक यह समावेश क्रम से साधक में हृदयता परामर्श प्राप्त करने की पात्रता का सम्पादन करता है तथा आत्मविमर्श के अभ्यास से प्राण, नाडी जय आदि अपर विभूतियों की सिद्धि प्राप्त करता है।

बीज मन्त्र के उच्चार में अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, एवं उभय रूप प्राण के व्यापार में समावेश हो जाने मात्र से ज्ञान—क्रियात्मक मन्त्र—मुद्रा

शीघ्र ही साधक के सन्मुख हो जाती है। उच्चार का अर्थ है– **"स्थूल सूक्ष्मोभय रूपेण प्राण–व्यापारः"**। प्राण से स्वदेह में भी आवेश उत्पन्न हो जाता है तदनन्तर सम्पूर्ण ज्ञान–क्रियात्मक हृदय रूप के अन्तर्लीन होनें पर प्राण नाडी में अधिष्ठित देह भी (उस हृदयता में समाविष्ट) ज्ञान–क्रियात्मक मन्त्र–मुद्रा से आवेशित हो जाती है।

यह जो **"मुहूर्तं स्मरते यस्तु चुम्बकेनाभिमुद्रितः"** चुम्बक से अभिमुद्रण की क्रिया कही गई है आचार्य अभिनव ने उसको स्पष्ट किया है। जिस प्रकार काक के चञ्चुपुट का आकार है उसी प्रकार मुख की मुद्रा बनाकर नाभि–पर्यन्त वायु का समावेश कर चुम्बन क्रिया के समान रसास्वादन करने से पूर्ण–कुम्भक का समावेश उत्पन्न हो जाने पर एक मुहुर्त अभ्यास से वाक् रूप एवं काल रूप देह में पर भैरव की अभिव्यक्ति होने से बुद्धि में प्रत्यगात्मा का प्रकाश होता है तथा अतीत एवं अनागत प्रश्नों के कथन करने से शक्ति प्राप्त करता है। दो प्रहर अभ्यास से निरावरण चिद्रूपघन सकल स्वरूप का साक्षात्कार होता है। तीन प्रहर अभ्यास करने से ब्राह्मी आदि मातृकाएँ, योगेश्वरी, वीर अघोर आदि देवताओं का उन्मीलन होता है।

यह समस्त देवता महान भैरव–बल से युक्त हैं। शाकिनी शक्ति के गण भी भैरव के बल से ही बलशाली कहे जाते हैं। भैरव के बल से बलान्वित यह समस्त देवता पृथ्वी से शिव पर्यन्त परम स्वातन्त्र्य सिद्धियों को इसी देह में प्रदान करते हैं। मातृ आदि देवता को भगवान भैरव ही अपने स्वरूप के अभेदात्मक तादात्म्य से समय सिद्धि प्रदान करते है तथा स्वरूप के अवभासन से भैरव चक्र को प्रकाशित करते हैं। समस्त देवता एवं चक्रेश्वर भगवान भैरव के प्राण में आविष्ट होने से भैरव भूत हैं अर्थात् भैरवात्मक हैं। अहं मन्त्र के उच्चार से साधक को वह समस्त सिद्धियां जिनका भैरव तन्त्र में प्रतिपादन किया गया है प्राप्त हो जाती हैं तथा मन्त्र वीर्य के समावेश के प्रभाव के कारण अन्य किसी नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् मन्त्र की प्राप्ति मात्र ही साध्य है,

विद्या व्रत आदि अन्य सहयोगी उपायों की आवश्यकता नहीं है। जो मन्त्र को तत्त्वतः जानता है वह सिद्धि का नित्य भागी हो जाता है वह योगी समावेश योग से युक्त है तथा मन्त्र को सत्यतः जान लेने पर साधक के पाश क्षीण हो जाते हैं तथा शिवत्व में स्वयं दीक्षित हो जाता है। कहा है –

"स्वस्वरूप परिज्ञानं मन्त्रोऽयं पारमार्थिकः।
दीक्षेयमेष योगश्च क्रियाया अप्यनुत्तरम्" ॥

—:०:—

अहं बीज में भैरवत्व का निरूपण

जिस प्रकार घट, शराव आदि प्रपञ्च के नष्ट हो जाने पर केवल मृत्तिका ही सत्य है, मृत्तिका रूपात्मक प्रपञ्च के नष्ट हो जाने पर केवल गन्ध सत्य है, गन्ध के समाप्त होने पर अविद्या रूप अहं की सत्यता शेष रहती है, भेद रूप अहं के भङ्ग होने पर सुख–दुःख मोह रूपता शेष रह जाती है तथा सुख दुःख आदि वैचित्र्य के समाप्त होने पर केवल वेद्य–वेदक–रूपता मात्र शेष रहती है, तथा अन्ततोगत्वा वेद्य–वेदक रूप के विगलित होने पर केवल सद्रूप अवशिष्ट रहता है। इस के पश्चात् भी अहम् वर्ण त्रय की परामर्शता विशीर्ण होने पर केवल आद्य वर्ण (अर्थात् अकारवर्ण) रूप विश्रान्ति शेष रहती है। आद्य वर्ण ही शिव रूप है। इसी प्रकार जल तत्त्व से प्रारम्भ कर माया तत्त्व पर्यन्त अशुद्ध अध्वा के मध्यवर्ति वेद्य रूप समस्त तत्त्वों की विश्रान्ति के समय केवल एक, घन, अमृत, आत्म भूत तत्त्व शेष रह जाता है। वेदान्ती इसी ब्रह्म बोध को विश्रान्ति नाम से व्यवहृत करते हैं। इस प्रकार निरूपित विश्रान्ति के मन्थन से भैरव भगवान भी विश्व सृष्टि के कर्ता कहे जाते हैं। गीता में भी कहा है।

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत"॥

अर्थात् महत् तत्त्व ब्रह्म की योनि है जिस में अहं रूप ब्रह्म गर्भ धारण करता है जिस से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है।

जब उस सन्मात्र विश्रान्तिधाम बोध रूप ब्रह्म का स्वरूप विगलित हो जाता है तब प्रकाश–विमर्शन शक्ति के स्वरूप में अनुप्रविष्ट ब्रह्म का शक्ति के स्वरूप से अभिन्न परमार्थतः अवभास होता है। तात्पर्य यह कि अन्ततो गत्वा शक्ति का ही स्वरूप शेष रह जाता है।

शक्ति तत्त्व इच्छा–ज्ञान–क्रिया का विश्रान्त रूप है। इच्छा में भी तीनों शक्तियों का अनुवेध है अर्थात् इच्छा का स्वरूप ज्ञान एवं क्रिया से अभिन्न है। अतएव इच्छा आदि शक्तियों के विश्रान्त स्वरूप में ही उस का (ब्रह्म) अवभास होता है। ब्रह्म के स्वातन्त्र्य के कारण शक्ति का भी एक एवं स्वतन्त्र स्वरूप है। अतः अधः एवं ऊर्ध्व बिन्दुओं से युक्त विसर्ग संवित् पर–भैरव का तात्त्विक शरीर है। तात्पर्य यह कि वर्णत्रय (अ–ह–अं) का स्वरूप वेद्य–वेदन–वेदक त्रय की विश्रान्ति रूप है। जब तीनों विश्रान्तियों की अनुभूति होती है तब भुक्ति–मुक्ति क्रम से सिद्धियां प्राप्त होती हैं। जब एक घन रूप परामर्श होता है तब इच्छा आदि के द्वारा अक्रम अर्थात् सद्रूप विश्रान्ति स्थान का पर भैरव में विसर्जन हो जाता है। तदनन्तर पर–भैरव में अभेद रूप से अवस्थित वेद्य को वही इच्छा–ज्ञान–क्रिया शक्तियां बाहर विसर्जित करतीं हैं। इस प्रकार नैसर्गिक सद्रूप वेद्य एवं भैरवात्मक वेदक उभय के स्पर्श से शक्ति के स्वरूप का आविर्भाव होता है। शक्ति के इस प्रकार आविर्भूत स्वरूप को ही ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। इच्छा–ज्ञान–क्रियात्मक विश्रान्ति से युक्त तथा शान्त, उदित, एवं उभयात्मक अनुभूतियों में एक रसता उत्पादन का हेतु भूत विसर्गतत्त्व ही संविद्–भैरव अथवा चिद्भैरव नाम से सम्बोधित है। इसका तात्पर्य है कि पृथ्वी तत्त्व से माया पर्यन्त भैरवात्मक चक्र तथा शक्तित्रय रूप भैरवीय चक्र विसर्ग नामक अनन्त शक्ति के अन्तर्गत विद्यमान रहता है। विसर्ग शक्ति का प्रेरक प्राण है जो शुद्ध–विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति एवं शिव तत्त्वों में व्यापक है। अतः वह वेद्य भूत देह आदि संकोच से रहित, स्वभाव से सन्मात्र प्रमातृत्व के कारण भिन्नाभिन्न समस्त विश्व का ज्ञाता है तथा कर्ता है। वह परमेश्वर विद्या से माया पर्यन्त तत्त्वों के अन्तर्गत नहीं है अर्थात् इन से परे है अत एव सर्वग अर्थात् सर्वव्यापी होने पर भी मायीय मल से रहित है, वह आणव मल से रहित होने से स्वच्छ एवं कार्मण्य मल से रहित होने से तृप्त कहा गया है। वह चिदात्मा में प्रतिष्ठित है अत एव उसको स्वायतन कहा है। वही परमेश्वर सर्वज्ञ एवं सर्व कर्ता है। परा त्रिंशिका में कहा है–

"तच्चोदकः शिवो ज्ञेयः सर्वज्ञः परमेश्वरः ।
सर्वगो निर्मलः स्वच्छस्तृप्तः स्वायतनः शुचिः ।।"

अतएव बोध रूप होने से अणु अर्थात् जीव, प्रेरक शिव के विश्रान्ति रूप समावेश के अभ्यास से परापर रूप, ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व को प्राप्त कर लेता है तथा इच्छा–ज्ञान–क्रिया त्रय की विश्रान्ति से तुरीय पर–विश्रान्ति में एक रस अभेद स्थिति को प्राप्त करता है । जिस प्रकार वट वृक्ष के बीज के अन्तर्गत समस्त महावृक्ष का स्वरूप अन्तर्निहित होता है उसी प्रकार शक्त्यात्मक हृदय बीज में समस्त चर व अचर विश्व विभावित है । — अतएव कहा है:–

"एवं यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य निर्वाणगामिनी ।
दीक्षा भवत्यसंदिग्धा तिलाज्याहुति वर्जिता" ।।

जो इस प्रकार देहाहंभाव से रहित होकर चिदात्मक भगवान भैरव के स्वरूप को आत्म निष्ठ होकर असंदिग्ध रूप से जान लेता है उस साधक की तिल आदि बाह्य पदार्थों के उपयोग के बिना ही दीक्षा सम्पन्न हो जाती है । दीक्षा का अर्थ है :—

"ददाति ज्ञान सद्भावं क्षपयत्यखिलं मलम् ।
बोधानुवेधाद् दीक्षोक्ता दान, क्षपण धर्मिणी" ।।

अर्थात् द का अर्थ है जो ज्ञान एवं सद्भाव को देती है । क्ष का अर्थ है जो अखिल मल का क्षपण करती है, नाश करती है उसको दीक्षा कहा गया है ।

शिव सूत्रों में इस प्रकार तत्त्वतः शक्ति की अहं रूप में उपासना को "**शक्ति चक्र संधाने विश्वसंहारः**" सूत्र में प्रतिपादित किया है । शक्ति चक्र के संधान अर्थात् यथा क्रम विमर्शन से कालाग्नि (पैर के

अंगूठा) से चरम कला पर्यन्त देहात्मतया अथवा बाह्यतया अवस्थित विश्व का संविद् अग्नि में संहार हो जाता है। श्रीमद्वीरावली में कहा है:—

"यत्र सर्वे लयं यान्ति दह्यन्ते तत्त्व सञ्चयाः।
तां चितिं पश्य कायस्थां कालानल समत्विषम्"॥

अर्थात् जहां समस्त तत्त्व अशेष संस्कारों सहित लय हो जाते हैं कालानल के समान प्रज्वलित उस चिति (शक्ति) अर्थात् महाश्मशान का इस शरीर में ही अनुसन्धान अर्थात् दृढता से अनुभव करना चाहिये। इस अनुभूति का ही शाक्त समावेश नाम से कथन किया गया है। शाक्त समावेश का लक्षण मालिनीविजय तन्त्र में कहा है:—

"उच्चार रहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते"॥

वैखरी वाणी का उच्चार होता है अतः उच्चार रहित से यहां तात्पर्य है परा वाक् रूपिणी शक्ति के चिन्तन से जिस समावेश की प्राप्ति होती है उसका शाक्तोपाय नाम से कथन किया है। इस उपाय में भी, शाम्भवोपाय के समान ही शक्ति चक्र अर्थात् वेद्य प्रकाश के समनन्तर ही अविलम्ब विमर्श की अनुभूति होती है। यही तात्पर्य परात्रिंशिका में "सद्यः कौलिक सिद्धदं" वाक्य में सद्य पद से प्रकट होता है।

इस प्रकार शाक्तोपाय से विश्व का संहार होने पर साधक की समाधि एवं व्युत्थान में कोई भेद नहीं रह जाता। जाग्रत्-स्वप्न एवं सुषुप्ति दशाओं की भेदात्मक अनुभूति में भी तुर्य का भोग संभव होता है। कहा है :—

"यथेन्दुः पुष्पसंकाशः समन्तादवभासते।
आल्हादन समूहेन जगदाह्लादयेत्क्षणात्॥
तद्वद्देवि महायोगी यदा पर्यटते महीम्।
ज्ञानेन्दुकिरणैः सर्वैजंगच्चित्रं समस्तकम्॥
आह्लादयेत्समन्तात्तदवीच्यादि शिवान्तकम्"॥

अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय से जगत् की तुच्छ अथवा अतुच्छ समस्त वस्तु समान रूप से तत्क्षण प्रकाशित होने लगती है उसी प्रकार तुर्य की अनुभूति के चमत्कार से साधक निम्न कोटि के नरक में अथवा शिव पद में समान रूप से अविच्छिन्न प्रकाशानन्द की अनुभूति करता है। योगी को तुर्य की अनुभूति जाग्रत् अवस्था में होती है। योगी की अपेक्षा से जाग्रत का अर्थ है धारणा रूप ज्ञान। मैं वायु हूं, मैं शून्य हूं इस प्रकार के ज्ञान प्रवाह को धारणा कहा है। विकल्प-ज्ञान का नाम स्वप्न है, तथा ग्राह्य-ग्राहक के भेद के असंचेतन अर्थात् अननुभूति को समाधि कहा जाता है यही सुषुप्ति है।

जाग्रत् आदि दशा त्रय में शक्ति चक्र के संधान के फल स्वरूप विश्व का संहार हो जाने पर जो अभेद व्याप्ति के रूप में स्फुरण होता है, उस धारा में अधिरोहण से तुर्यातीत अर्थात् पूर्व में प्रतिपादित चैतन्य में प्रवेश होता है। जब शक्ति चक्र के अनुसन्धान से जाग्रत् आदि दशाओं में तुर्यानन्द प्रवाहित होने लगता है तब तुर्यानन्दात्मक परामर्श के उत्कर्ष से योगी के अन्तः में भेद संस्कार विगलित हो जाते हैं तथा वह सब कुछ आनन्द रस से आप्लावित देखता है। कहा है—

"त्रिषुधामसु यद्भोग्यं भोक्ता यश्चप्रकीर्तितः।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते"॥

जाग्रत् आदि तीनों धामों का जो भोक्ता है उस परमानन्द परिपूर्ण योगी को निःसम्पन्न स्वात्म साम्राज्य प्राप्त हो जाता है तथा वह भेद-

ग्रसन शील इन्द्रियों का स्वामित्व प्राप्त कर मन्थान भैरव की सत्ता में प्रवेश करता है। समस्त वेद्य जगत् को मन्थन कर अपनी आत्मा में लीन कर लेता है अतः स्वच्छन्द भैरव को मन्थान भैरव के नाम से सम्बोधित किया गया है।

शाम्भव एवं शाक्त नामक सूक्ष्म उपायों के अतिरिक्त, जिनका हमने यहां किञ्चित निरूपण किया है, एक स्थूल उपाय भी है जिसको आणव उपाय के नाम से शिव सूत्रों में सम्बोधित किया है।

आणव-उपाय का लक्षण कहा है:—

"उच्चार करण ध्यान वर्ण स्थान प्रकल्पनैः।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते"॥

माया के बन्धन से मुक्ति के हेतु शिवसूत्रों में **"शरीरे संहारः कलानाम्"**। सूत्र का निरूपण किया गया है। महाभूतात्मक शरीर से समना पर्यन्त जो स्थूल, सूक्ष्म, एवं पर शरीर कहा गया है उसके अन्तर्गत पृथ्वी से शिव पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों में जो कला भाग है उसका संहार हो जाने से माया जनित बन्ध का शमन हो जाता है। संहार से तात्पर्य है अपने कारण में लय की भावना से अथवा दाह आदि के चिन्तन से युक्त ध्यान। जो जिसका परमार्थ है उसका लय उसमें ही होता है। श्रुति कहती है, **"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत, आकाशाद्वायुर्वायोग्निरग्नेराप अद्भ्यः पृथ्वी, पृथिव्याः पुरुषः पुरुष एवेदं सर्वम्"।** अर्थात् आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी तथा पृथ्वी से पुरुष की उत्पत्ति होती है। यह उत्पत्ति यथाक्रम अपने कारण से होती है। इसी प्रकार पृथ्वी से शिव पर्यन्त तत्त्वों के व्युत्क्रम आरोहण से तत्त्व अपने अपने कारण में लय हो जाते हैं। विज्ञान भैरव में कहा है—

"भुवनाध्वादि रूपेण चिन्तयेत्क्रमशोऽखिलम्।
स्थूल सूक्ष्म परस्थित्या यावदन्ते मनोलयः"॥

लय अथवा शरीर दाह की भावना का आणव उपाय उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण, स्थान की कल्पना से जो समावेश होता है उस का नाम आणव उपाय है। उच्चार का अर्थ है स्थूल एवं सूक्ष्म उभय रूप प्राण का व्यापार, करण से तात्पर्य है मुद्रा आदि का व्यापार (क्रिया) जिस से देह में आत्मा का विशेष संन्निवेश होता है। ध्यान बुद्धि का व्यापार है। जिस के द्वारा समस्त तत्त्वों में अन्तर्भूत स्वप्रकाश पर तत्त्व की हृदय में विभावना होती है। वर्ण का अर्थ है वह अव्यक्त ध्वनि जिसके स्फुरण से सूक्ष्म प्राण का उच्चार होता है जो सृष्टि एवं संहार की बीज है। स्थान से तात्पर्य है त्रिकोण कन्द हृदय आदि। इन के अभ्यास से पर संवित्ति का साक्षात्कार होता है। शास्त्र में कहा है—"**उच्चारः स्थूल सूक्ष्मोभय रूपेण प्राण व्यापारः,। करणं देह संनिवेश विशेषात्मा मुद्रा-व्यापारः, ध्यानं बुद्धि व्यापारः, यदेतत् सर्वतत्त्वान्तर्भूतं स्वप्रकाशं परतत्त्वं तस्यैव निज हृदय बोधे विभावनम्**" आदि विकल्प-संस्कारों से स्फुरित स्फुटतम अविकल्प ईक्षण से जो चित्त का संबोध होता है वह शाक्तोपाय का लक्षण है। आणवोपाय से चित्तविश्रान्ति एवं चित्त-विश्रान्ति से चित्त बोधात्मक शाक्तोपाय की प्राप्ति होती है। मातृका चक्र से सम्बन्धित अनुत्तर, आनन्द, इच्छा आदि शक्तियों में चिदानन्द घन आत्म स्वरूप के समावेश को संबोध अर्थात् सम्यक् बोध कहा गया है।

भैरवीय-मुद्रा एवं मन्त्र-वीर्य रूप शाक्तोपाय की सिद्धि गुरुचरणों की उपासना के बिना संभव नहीं है।

——:०:——

गुरुतत्त्व-निरूपण

"गृणाति उपदिशति तात्त्विकमर्थमिति गुरुः" व्युत्पत्ति के अनुसार गुरु वह हैं जो तात्त्विक अर्थ का उपदेश करते हैं। शिवसूत्रों में गुरु पद का प्रतिपादन **"गुरुरुपायः"** सूत्र में किया गया है। गुरु तात्त्विक उपदेश से मुद्रा-वीर्य एवं मन्त्रवीर्य का प्रदर्शन करता है अतएव गुरु को उपाय के रूप में प्रतिपादित किया गया है। कहा भी है **"स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्य प्रकाशकः"**। यहां मुद्रा-वीर्य से तात्पर्य है वह मुद्रा जो मुद्राओं में वीर्य रूप है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट शाम्भवी मुद्रा तथा मन्त्रवीर्य से तात्पर्य है मन्त्रों में वीर्यभूत महामन्त्र पूर्णाहन्ता। महामन्त्र का ऊपर हमने पर्याप्त पर्यालोचन किया है। शाम्भवी मुद्रा के आगे किञ्चित विवेचन करेंगे।

आगम शास्त्र में गुरु को ही शिव-स्वरूप मान्य किया है। भगवान शिव ही गुरु हैं तथा गुरु ही शिव हैं। दोनों में कोई भेद नहीं है। कहा है--

> **"यो गुरुः स शिवः प्रोक्तः यः शिवः स गुरुः स्मृतः।**
> **उभयोरन्तरं नास्ति गुरोरपि शिवस्य च"॥**

गुरु ही परमेश्वर की अनुग्राहिका शक्ति है जैसा कि कहा है **"शक्तिचक्रं तदेवोक्तं गुरुवक्त्रं तदोच्यते"**। श्रीमद् त्रिशिरो भैरव ग्रन्थ में भी कहा है-- **"गुरोर्गुरुतराशक्तिर्गुरुवक्त्रगता भवेत्"**। अर्थात् शक्ति चक्र को ही गुरु-वक्त्र कहा गया है। आगम व तन्त्र शास्त्र का अवतार भगवान सदाशिव ने स्वयं गुरु एवं शिष्य उभय रूपों में प्रकट होकर किया है। हमने ऊपर प्रतिपादित किया है कि प्रश्न कर्ता देवी ही भैरव का रूप धारण कर उत्तरदाता भी हैं तथा

भैरव ही देवी का रूप धारण कर प्रश्न कर्ता भी हैं। योगिनी हृदय में कहा भी है— "**तांस्तानर्थानशेषेण वक्तुमर्हसि भैरव**"।— गुरु-वक्त्र की परिभाषा करते हुए लिखा है—

"स विसर्गो महादेवी यत्र विश्रान्तिमृच्छति।
गुरुवक्त्रं तदेवोक्तं शक्तिचक्रं तदुच्यते॥"

अर्थात् जहां विसर्ग शक्ति की विश्रान्ति होती है उस तत्त्व को ही गुरुवक्त्र नाम से सम्बोधित किया है तथा वही शक्ति चक्र है।

चिद्विलास नामक ग्रन्थ में परा शक्ति को पर-शिवात्मक गुरु की पादुका के रूप में प्रतिपादित किया है। कहा है—

"स्वप्रकाश शिवमूर्तिरेकिका
तद् विमर्शतनुरेकिका तयोः।
सामरस्य वपुरिष्यते परा
पादुका परशिवात्मनो गुरोः॥"

अर्थात् दो मूर्ति हैं जिनमें से एक का नाम स्वप्रकाश शिव है तथा दूसरी का नाम विमर्श है। प्रकाश एवं विमर्श के सामरस्य को अर्थात् संश्लिष्ट स्वरूप को परा नाम से सम्बोधित किया जाता है जिसको पर-शिवात्मक गुरु की पादुका निरूपित किया है। पादुका की परिभाषा में कहा है कि "**परापरात्मनः स्वात्मनः परानन्दमयी स्वव्यतिरेक कवलनोद्युक्ता पराशक्तिः पादुकेति गीयते**" अर्थात् परानन्दमयी शक्ति जब अपने अतिरिक्त समस्त भेद सृष्टि का ग्रास करने के लिये उद्यत होती है तब उस पराशक्ति को पादुका नाम से व्यवहृत करते हैं। पादुका का सरल अर्थ पदरक्षणाधारः भी किया जाता है अर्थात् वह आधार जिस से पद की रक्षा होती है। पादुका पञ्चक नामक ग्रन्थ में पादुकाओं की संख्या पांच कही गई है— (१) पद्म (२) त्रिकोण (३) नाद-बिन्दु

(४) मणिपीठ मण्डल (५) हंस पद। किन्तु योगिनी हृदय के टीकाकार अमृतानन्द का मत है कि चिद्विलास में पर–शिव की तीन पादुकाएँ कही गई हैं जैसा कि उपर्युक्त पद्य में कहा है। प्रकाश, विमर्श एवं सामरस्य यह तीन पादुकायें पर शिव की हैं। पर शिव का स्वरूप शिव–शक्ति का सामरस्य ही है। यही पूर्ण सत्य है, पूर्ण सत्य के स्वरूप का वर्णन मन वाणी के परे है। श्रुति भी इसका निर्णय करने में असमर्थ रहीं हैं जैसा कि महिम्न में कहा है--"**अतद् व्यावृत्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि**"॥

शिव एवं परशिव के स्वरूप में केवल इतना ही भेद है कि शिव निर्गुण विश्वातीत अवस्था है किन्तु परशिव एक साथ विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय हैं। यह शिव–शक्ति की सामरस्यात्मक स्थिति है जिससे विश्व की सृष्टि होती है। यही परम सत्य है। इस को ही परब्रह्म पर–भैरव, पूर्णाहन्ता परशिव, महात्रिपुर सुन्दरी आदि नामों से लक्षित किया गया है। यह अवस्था केवल गुरु की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। जन्म, स्थिति, लय, तिरोधान, अनुग्रह शिव की यह पांच शक्तियां हैं। अतः पूर्णावस्था प्राप्त करने के हेतु शिव के अनुग्रह की ही आवश्यकता है। देह रूप में गुरु के अन्तः में शिवत्व का समावेश हो जाता है तथा वतूलनाथ सूत्रों के अनुसार प्राण, पुर्यष्टक, एवं शून्य प्रमातृत्व के अभिमान के विगलित हो जाने पर निस्तरङ्ग चिद्धाम में समाविष्ट गुरु की निस्पन्द आनन्दमयी परमशून्य दृष्टि के बल से (जो कुछ वह अवलोकन करते हैं) सब कुछ चिन्मय हो जाता है। अत एव दीक्षा द्वारा शिष्य को शिवतत्त्व में नियोजन करने का काम केवल गुरू का है इस में शिष्य का कोई कर्तव्य नहीं है। किन्तु शिष्य में इस की पात्रता पासक्षय क्रिया के पश्चात् ही उत्पन्न होती है। अर्थात् दीक्षा के समस्त संस्कारों के पश्चात् ही सामरस्य स्थिति में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होता है। सामरस्य की सात श्रेणियां हैं। (१) आत्मा (२) मन्त्र (३) नाडी (४) शक्ति (५) व्यापिनी (६) समना, (७) उन्मनी। इन सब स्थानों में सामरस्य होने के अनन्तर ही शिव–वक्त्र अथवा गुरु–वक्त्र में सामरस्य

अवस्था उत्पन्न होती है। अतएव वही गुरु जिनकी दृष्टि चिन्मय हो गई है दीक्षा देने के अधिकारी हैं। गुरु की परिभाषा आगम शास्त्र में इस प्रकार की गई है:—

"पिण्डं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयम् ।
यो वा सम्यग् विजानाति स गुरुः परिकीर्तितः" ।।

अर्थात् जिनको पिण्ड, पद, रूप तथा रूपातीत का पूर्ण ज्ञान है वह गुरु हैं पिण्ड का अर्थ है कुण्डलिनी शक्ति, पद से तात्पर्य है हंस, अर्थात् भ्रूमध्य में स्थित आज्ञा चक्र, रूप नाम बिन्दु का है तथा रूपातीत निरञ्जन शिव पद है। कहा है—

"पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः ।
रूपं विन्दुरिति ज्ञेयं रूपातीतं निरञ्जनम्" ।।

इस प्रकार शिव सूत्र के अनुसार गुरु ही उपाय हैं तथा गुरु ही उपेय हैं अर्थात् साधन तथा सिद्धि दोनों ही गुरु में ही अन्तर्निहित हैं। सन्त कवि तुलसीदास ने भी कहा है—

"साधन सिद्धि रामपद नेहू ।
मोंहि लख परत भरत मत एहू" ।।

तथा तन्त्र का कथन है—

"गृणते तत्त्वमात्मीयमात्मीकृत जगत्त्रयम् ।
उपायोपेय रूपाय शिवाय गुरवे नमः" ।।

—:०:—

शाक्त साधना का रहस्य

शाक्त साधना के तीन मुख्य सङ्केत कहे गये हैं— (१) चक्रसङ्केत (२) मन्त्र सङ्केत (३) पूजा सङ्केत। जो साधक सङ्केतत्रय को भली भांति जानता है वही त्रिपुरेश्वरी से तादात्म्य का अधिकारी है। जिसको सङ्केतत्रय का सम्यक् ज्ञान नहीं है वह साक्षात्कार का अधिकारी नहीं हो सकता है। अर्थात् उसको 'तत्त्वमसि' वाक्य की सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है।

यहां चक्र का अभिप्राय है 'श्रीचक्र'। पञ्च शाक्त तथा चार शैव त्रिकोणों के संयोग से श्री चक्र का अवतार होता है। अवतार का अर्थ है किसी ऊंचे स्थान से नीचे स्थान पर उतरना। यहां प्रकाशात्मक विश्वोत्तीर्ण परम शिव से शक्ति का छत्तीस तत्त्वों के रूप में क्रमिक अवतरण होता है। अर्थात् शिव का स्वयं अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के संयोग से इस प्रकार विवर्त होता है कि वह अपने वैभव से च्युत होकर जीव रूप में अवतरित होते हैं। शक्ति का विश्व रूप में यह प्रथम स्फुरण ही प्रथम ईक्षणात्मक वृत्ति है जिस के कारण विश्वमय चक्र की उत्पत्ति होती है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेत"॥

यह ईक्षणा शक्ति इच्छा-ज्ञान क्रिया की समष्टि है। इच्छा-ज्ञान-क्रिया को त्रिकोण नाम से व्यवहृत किया जाता है। त्रिकोण के तीन बिन्दु शून्याकार हैं अर्थात् बिन्दु एवं विसर्ग के रूप हैं। बिन्दु एवं विसर्ग के योग से ही अहं की उत्पत्ति होती है। अकार शिव रूप है एवं हकार शक्ति रूप है। शिव-शक्ति के योग से ही श्रीचक्र की उत्पत्ति कही गई है। कहा है:—

"शिव-शक्तिमयं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः" ।

सृष्टि एवं संहारात्मक होने से त्रिकोण को सोम एवं अग्नि का स्वरूप कहा गया है । बिन्दु अग्निषोमात्मक है अर्थात् अग्नि एवं सोम का सामरस्य रूप है । यही शिव-शक्ति का सामरस्य है जिसको सूर्य नाम से व्यवहृत किया जाता है । शिव-शक्ति अर्थात् अकार एवं हकार के सामरस्य से संसार की उत्पत्ति निरूपित की गई है अतएव यह चैतन्य कला आनन्द स्वरूप है जिस से संसार की उत्पत्ति होती है । क्षिति से शिव पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों का जिसमें संहार हो जाता है वह संवर्त अग्नि का स्वरूप है । इस प्रकार श्रीचक्र सूर्य, सोम, अनलात्मक होने से त्रिखण्डात्मक कहा जाता है । यह त्रिकोण पुन : तीन रूपों में विभाजित हो जाता है जिस कारण से इस का नव-चक्रात्मक रूप बन जाता है । बिन्दु, त्रिकोण, अष्टकोण, दशारद्वय, चतुर्दशार, अष्टदल कमल, षोडश-दल-कमल, त्रिवृत्त, एवं चतुरस्र नामक नव चक्रों में श्रीचक्र विभाजित है ।

बिन्दु इच्छा-ज्ञान-क्रिया की समष्टि रूप ईक्षणात्मक वृत्ति का स्वरूप है । त्रिकोण इच्छा-ज्ञान-क्रिया, अथवा पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी का स्वरूप है । अष्टार के अन्तर्गत य, र, ल, व, श, ष, स, ह आठ वर्ण हैं अत: इस को अष्टार नाम से कहा गया है । यकार आदि चार वर्ण स्वप्न अवस्था के द्योतक हैं तथा क्रम से वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी तत्त्वों के बीज हैं । श, ष, स, ह क्रमशः शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिव एवं शक्ति तत्त्वों के द्योतक हैं । शुद्ध विद्या आदि तत्त्वों में जगत का लय हो जाता है अतः संहारात्मक होने से अष्टार चक्र को अग्नि खण्ड कहा है ।

चतुर्थ चक्र दशार-द्वय है जिस के अन्तर्गत क से प्रारम्भ कर भकार पर्यन्त वर्णों का समावेश है । इस के अन्तर्गत क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग एवं प वर्ग नामक पांच भाग हैं जो क्रमशः पञ्च महाभूत, पञ्च तन्मात्रा, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय एवं अन्तःकरण चतुष्टय के बोधक हैं । यह सौर खण्ड है तथा जाग्रत् अवस्था का द्योतक है ।

चतुर्दशार चक्र अ से औ पर्यन्त वर्णों से गर्भित है। यह सुषुप्ति अवस्था का बोधक है जिस को सोम खण्ड भी कहा जाता है। बिन्दु एवं विसर्ग को पृथक् से कलाओं सहित अष्टदल कमल एवं षोडश दल कमल के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। वृत्तत्रय समष्टि स्वरूप का द्योतक है तथा चतुरस्त्र प, फ, ब, भ वर्णों से कल्पित सूर्य की दो बिम्व कलाओं का बोधक है। जो प्रकृति, अहङ्कार, बुद्धि एवं मन का प्रतीक है तथा दशार-द्वयात्मक सौर खण्ड का भाग हैं। चतुरस्त्र चक्र में चित् एवं अचित् तत्त्वों का पृथक रूप में प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

——:०:——

श्रीचक्र-संकेत

श्रीचक्र के अन्तर्गत उपर्युक्त चतुरस्र से बिन्दु पर्यन्त नव चक्रों को त्रैलोक्य मोहन आदि नामों से भी व्यवहृत किया जाता है।

(१) प्रथम चक्र भूपुर अर्थात् चतुरस्र को त्रैलोक्य मोहन चक्र के नाम से संम्बोधित किया है। लोक शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की गई है— **"लोक्यत इति लोकः", "लोक्यतेऽनेनेति लोकः", "लोकयतीति लोक"** इति। कर्म, करण एवं कर्ता के दृष्टिकोण से की गई उपर्युक्त व्युत्पत्ति के अनुसार त्रैलोक्य का अर्थ है मेय, मान एवं मातृ पद। इस प्रकार त्रैलोक्य मोहन चक्र का तात्पर्य है वह चक्र जिसके द्वारा मेय, मान एवं मातृ भाव का अद्वैत प्रतीति में तिरोधान हो जाता है **"तस्य त्रैलोक्यस्य मोहनं तिरोधायकमद्वैत प्रतीत्युत्पादनेन"** इति।

(२) दूसरा सर्वाशापरिपूरक नामक चक्र षोडशार है। अतृप्त साधक की अन्य पदार्थों में स्पृहा शेष रहती है अतः जिस चक्र की भावना से साधक के चित्त में परम शिव के सामरस्य के प्रतिपादन के कारण नित्य परिपूर्ण तृप्ति का उदय होने से अन्य आकांक्षाओं का शमन हो जाता है वह सर्वाशा परिपूरक चक्र है।

(३) तीसरा सर्व संक्षोभण नामक चक है जो श्रीचक्र के अन्तर्गत अष्टदल पद्म के रूप में चित्रित है। इस चक्र की भावना से भेद प्रपञ्च के रूप में संक्षुब्ध, क्षिति से शिव पर्यन्त तत्त्वों का लय हो जाता है।

(४) चतुर्दशार के रूप में चित्रित सर्व-सौभाग्यदायक चक्र की भावना से सर्व स्पृहणीय पर-प्रेमास्पद शिव से तादात्म्य का सम्पादन होता है।

(५) प्रथम दशार सर्वार्थ-साधक चक्र है जिस की पूजा से समस्त वैदिक एवं तान्त्रिक उपासना के साध्य रूप परम शिव की प्राप्ति होती है।

(६) सर्वरक्षाकर नामक चक्र द्वितीय दशार है जो छत्तीस तत्त्वों के रूप में प्रतिपादित प्रतिकूल पदार्थों से रक्षा करता है तथा शिवोऽहं भाव का उत्पादक है। जैसा कि परा पञ्चाशिका में लिखा है:—

"अहमि प्रलयं कुर्वन्निदमः प्रतियोगिनः।
पराक्रमपरो भुङक्ते स्वभावमशिवापहम्" ॥

(७) सातवां अष्टार चक्र के रूप में सर्व रोगहर नामक चक्र है। साधक के चित्त में उद्भूत विकल्प ही रोग हैं जिन से षट्-त्रिशत–तत्त्वात्मक भेदसृष्टि का उदय होता है। निर्विकल्प परा शक्ति के आविर्भाव से ही विकल्पों का संहार होता है। कहा है—"**विकल्प रूप-रोगाणां हारिणी खेचरी परा**"।

(८) अष्टम् त्रिकोणात्मक सर्वसिद्धि नामक चक्र है। सिद्धि का अर्थ है उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार। जैसा कि प्रत्यभिज्ञा हृदय में कहा है—"**चितिः स्वतन्त्रा विश्व सिद्धि हेतुः**" अर्थात् विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार का कारण चिति शक्ति ही है। अतएव सर्व-सिद्धि मय चक्र चित् शक्ति का स्वरूप है।

(९) नवम चक्र बिन्दु है, जिसको सर्वानन्दमय चक्र के नाम से सम्बोधित किया है। सर्वानन्दमय चक्र शिवशक्ति अर्थात् प्रकाश-विमर्श का सामरस्यात्मक स्वरूप है। यह प्रवृत्ति एवं निवृत्ति रूप प्रवाह की अभावात्मक अवस्था है। इस अवस्था में अद्वैत रूप विश्रान्ति ही परमार्थ है।

यह श्री चक्र त्रिपुरसुन्दरी का स्वरूप है। महती अनावरण रूपा तुर्यात्मक शक्ति को सुन्दरी इस कारण कहा गया है कि यह स्वात्मस्वरूपा है। आत्मा ही सब को परम स्पृहणीय एवं अत्यन्त प्रिय होता है जैसा कि उपनिषत् में प्रतिपादित किया है तथा सब के अनुभव का विषय है—

"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"

सिद्धान्ततः विषय के सौन्दर्य का ज्ञान स्नेह का उत्पादक होता है। कहा है— "**विषय सौन्दर्य ज्ञानजन्यत्वात् स्नेहस्य**"। अपनी आत्मा सब को प्रिय होती है अतएव आत्मा ही सुन्दर है एवं आत्मस्वरूपिणी भगवती को तीनों पुरों में सुन्दरी के रूप में निरूपित किया है।

भगवती के जिस स्वरूप की ऊपर पर्यालोचना की गई है वह बाह्य पूजा के अधिकार क्षेत्र में है। अब उत्तम अधिकारी की अपेक्षा से त्रिविध आन्तर चक्र भावना की चर्चा करते हैं जिस अवस्था में ब्रह्माण्ड एवं पिण्डाण्ड के ऐक्य की भावना दृढ़तर हो जाती है। सुषुम्ना नाडी के अधः एवं ऊर्ध्व भागद्वय सहस्रार पद्म से संयुत है। कहा है:— "**अधश्चोर्ध्वं सुषुम्नायाः सहस्रदल संयुतम्**"॥ अधोभाग मूलाधार है जहां कुण्डलिनी शक्ति प्रसुप्त अवस्था में स्थित रहती है। जाग्रत् होने पर कुण्डलिनी का सहस्रार में स्थित परम शिव से ऐक्य हो जाता है। सुषुम्ना मार्ग में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, मध्यम, वज्रकण्ठ, लम्बिका, विशुद्धि एवं आज्ञा नामक नव चक्र हैं। इन में से तीन मध्यम, वज्रकण्ठ एवं लम्बिका को कम कर देने पर षट् चक्र शेष रह जाते हैं। आज्ञाचक्र विन्दु स्थान है। किन्तु यहां साधक को भगवती का केवल ईषत् ज्ञान उत्पन्न होता है क्यों कि ब्रह्मग्रन्थि के भेदन की व्यग्रता के कारण भगवती का आज्ञा चक्र में क्षणिक अवस्थान होता है। इस के ऊपर क्रमशः अर्धचन्द्र, रोधनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना, उन्मना एवं महा विन्दु हैं जहां से होकर परम साध्य शिवस्थान के लिये मार्ग है। योगिनी हृदय में कहा है:—

"विन्दौ तदर्धे रोधिन्यां नादे नादान्त एव च।
शक्तौ पुनर्व्यापिकायां समनोन्मनि गोचरे॥
महा विन्दौ पुनश्चैवं त्रिधा चक्रं तु भावयेत्"॥

मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त मार्ग कुलपथ नाम से प्रसिद्ध है तथा ऊर्ध्व स्थित सहस्रार शिवस्थान होने से अकुल नाम से सम्बोधित है। श्रीमदाचार्य शङ्कर ने आनन्द लहरी में कुण्डलिनी की कुलपथ यात्रा का वर्णन "**क्वणत्काञ्ची दामा**" श्लोक से "**सुधा धारा सारैः**" पर्यन्त किया है। भगवत्पादाचार्य ने श्री चक्र के पूजन के विषय में समयाचार का समर्थन किया है। समयाचार आन्तर पूजा का नाम है तथा कुलाचार बाह्य पूजा का नाम है। श्री चक्र का अपर पर्याय वियत् चक्र है अतः श्री चक्र पूजा का नाम वियत् पूजा भी है। यह वियत् पूजा दो प्रकार की है। बाह्य आकाश में भोजपत्र अथवा रजत आदि के पट्ट पर श्री चक्र को चित्रित कर जो पूजा की जाती है वह श्री चक्र की बाह्य पूजा है। इस को कौल पूजा भी कहते हैं। दहराकाश अर्थात् हृदयाकाश में श्री चक्र की जो पूजा की जाती है उसका नाम आन्तर पूजा है। प्राण वायु मूलाधार से उठ कर समस्त मणिपूर आदि स्थानों को लांघती हुई सहस्रार में प्रविष्ट होती है। उस से ऊपर उन्मनी स्थान है जहां मन तत्त्व का लय हो जाता है। उसके परे निष्कल पर भैरव का स्थान है जहां कुण्डलिनी भैरव के अन्तः में समाविष्ट होकर विहार करती है। आनन्द लहरी में श्रीमदाचार्य ने इसी अवस्था का वर्णन किया है:— "**सहस्रारे पद्मे सहरहसि पत्या विहरसे**"॥ यही निर्विकल्प, निरञ्जन, शिव-शक्ति का स्थान है। मूलाधार से आज्ञा पर्यन्त सकल, आज्ञा से समना पर्यन्त सकल-निष्कल तथा उन्मनी-निष्कल अवस्था है। इन तीनों अवस्थाओं से भी ऊपर निसर्ग-सुन्दर, देश—काल से अनवच्छिन्न, परशिवात्मक आनन्द से परिपूर्ण अवस्था है जिसको योगिनी हृदय में त्रिपुर-सुन्दरी नाम से कहा है—

> "देशकालानवच्छिन्नं तदूर्ध्वे परमं महत्।
> निसर्ग सुन्दरं तत्तु परानन्द विघूर्णितम्"॥

वासनान्तर की दृष्टि से व्याख्यान करते हैं कि यह निसर्ग सुन्दर तत्त्व शिव-शक्ति की साम्यावस्था है। जब परमा कला आत्म ईक्षण

करती है तब यह अम्बिका रूप से सम्पन्न परा वाक् नाम से व्यवहृत होती है तथा सामरस्य आपन्न शिव-शक्ति बिन्दु रूप में परिणत हो जाते हैं। यह बिन्दु मूलाधार में प्रकट होता है जिस को कामराज पीठ के नाम से तन्त्र में सम्बोधित किया जाता है। इस पीठ में अभिव्यक्त चैतन्य का नाम स्वयं भू लिङ्ग है तथा शक्ति को शान्ता एवं अम्बिका नाम से वर्णन करते हैं। इस पीठ में यह बिन्दुरूप महाशक्ति परावाक् के नाम से भी प्रसिद्ध है। प्रणव अथवा वेद का परम स्वरूप भी परावाक् है।

शक्ति के क्रमिक विकास के अन्तर्गत शान्ता नामक शक्ति-अंश इच्छा तथा अम्बिका नामक शिवांश वामा रूप में आविर्भूत होता है। इन दोनों शक्तियों के सामरस्य से उद्भूत बिन्दु को पूर्ण गिरि पीठ तथा चिदंश को वाण लिङ्ग नाम से व्यवहृत किया जाता है। यही पश्यन्ती वाक् की अवस्था है। परा वाणी में विश्व का वर्तमान रूप निहित रहता है। वहां काल एवं देश से अतीत अखण्ड स्थिति है। यहां कार्य-कारण सम्बन्ध अथवा विक्षोभ अर्थात् विक्षेप एवं आवरण का स्थान नहीं है। परा के पश्चात् पश्यन्ती के प्रसार में इच्छा का आविर्भाव होता है। यहां काल देश एवं कार्य-कारण भाव की उत्पत्ति होती है। इसके पश्चात् ज्ञान शक्ति का उदय होता है। यहां शक्ति का नाम ज्येष्ठा तथा शिवांश को इतर लिङ्ग कहा जाता है। शिव-शक्ति के सामरस्यात्मक बिन्दु को जालन्धर-पीठ नाम से सम्बोधित किया जाता है। यहां मध्यमा नामक वाणी का आविर्भाव होता है, जहाँ जगत् अव्यक्त रूप से तत् तत भावों में स्थित रहता है। इसके पश्चात् जब स्थिति—शक्ति क्षीण हो जाती है तब संहार शक्ति का प्रारम्भ होता है। यहां रौद्री-शक्ति एवं शिव के सामरस्य से जो कार्य विन्दु प्रकट होता है उसका नाम उड्डीयान-पीठ है। यहां चित्-शक्ति की महा-ज्योति रूप परलिङ्ग में अभिव्यक्ति होती है। यह शब्द की वैखरी नामक चतुर्थ भूमि है। क्षय धर्मक जगत् वैखरी की विभूति है।

कामराज आदि चार पीठों को, तन्त्र में संक्षेप से, प्रथम वर्णों को उद्देश्य कर का पू जा ओ नाम से व्यवहृत किया जाता है। इन पीठों के अन्तर्गत जो लिङ्ग हैं उनके द्वारा चिद्रूप अर्थ का ज्ञान होता है अतः इनको लिङ्ग नाम से सम्बोधित किया जाता है। योगिनी हृदय के टीकाकार ने लिङ्ग शब्द की **"लीनं बाह्येन्द्रियागोचरं चिद्रूपं अर्थं गमयन्तीति लिङ्गानि"** व्युत्पत्ति की है अर्थात् जो तत्त्व बाह्य इन्द्रियों से अगोचर है उसका ज्ञान जिस से होता है वह लिङ्ग शब्द द्वारा वाच्य है।

कामराज आदि चार पीठ मन, बुद्धि, अहङ्कार एवं चित्त नामक अन्तःकरण के प्रतीक हैं। साधक चित्सत्ता की प्राप्ति के हेतु अन्तः-करण चतुष्टय का ही उपयोग करता है अतः साधना का आधार होने के कारण इनको पीठ (अर्थात् आसन) के रूप में स्वीकार किया गया है। अन्तः करण चतुष्टय के अन्तर्गत ज्योति रूप चार वृत्तियाँ हैं जो स्वयंभू आदि लिङ्गों के रूप में प्रतिपादित हैं जिन से परमप्रकाश रूप शिव का साक्षात्कार होता है।

अकार आदि षोडश स्वर स्वयं प्रकाशित होने के कारण स्वयं भू लिङ्ग कहे जाते हैं, क से त पर्यन्त स्पर्श वर्ण त्रिकोण रूप होने से वाण लिङ्ग कहे जाते हैं तथा त से क्ष पर्यन्त वर्ण इतर लिङ्ग नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार अ क थ वर्णों के संयोग से लिङ्ग त्रय को तन्त्र में बहु-चर्चित अकथ रूप में कहा गया है। पर तेजो-रूप होने से पर लिङ्ग सूक्ष्म, वर्ण रहित, अतीन्द्रिय है अर्थात् बिन्दु रूप होने से समस्त पञ्चाशत वर्ण इसके गर्भ में निविष्ट हैं।

शब्द की पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी नामक अवस्थाएँ ही प्रणव के 'अ', 'उ', 'म' का स्वरूप हैं तथा अखण्ड परावाक् नामक चतुर्थ अवस्था के परिणाम हैं।

यह जो शक्ति चतुष्टय, मातृका चतुष्टय, पीठ चतुष्टय एवं लिङ्ग चतुष्टय का निरूपण किया गया है वह सब वाग्भव, कामराज, शक्ति

बीजों से युक्त समष्टि रूप तुरीय विद्या का वाच्य रूप हैं। विद्या वाचक है। वाच्य वाचक का अभेद एक रूप होता है अतएव इस का तात्पर्य है कि तुर्य विद्या के अन्तर्गत ही शक्ति, मातृका आदि का समावेश है। शक्ति आदि तत्त्व जाग्रत् आदि अवस्थाओं के स्वरूप हैं, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य एवं तुर्यातीत शक्ति की ही पांच अवस्थाएँ हैं। श्री चक्र के अन्तर्गत पांच शाक्त चक्र जाग्रत् आदि अवस्थाओं के द्योतक हैं। तुरीय अवस्था चैतन्य मात्र वृत्ति है जिसमें जाग्रत् आदि अवस्थाओं का लय हो जाता है। किन्तु तुर्य में जाग्रत् आदि का लेश रहने से विश्व की गन्ध शेष रह जाती है अतएव पूर्ण निर्विकल्प तुर्यातीत में तुर्य सहित चारों अवस्थाओं का पूर्ण लय प्रतिपादित किया जाता है। यह विश्वोत्तीर्ण अवस्था है जिसको श्रुति ने ज्योति की भी ज्योति कहा है **"तदेव ज्योतिषां ज्योतिः"**। यही ज्योति सब प्राणियों में आत्मा के रूप में स्थित है। कहा है– **"अनन्तं परमं ज्योतिः सर्व प्राणि हृदि स्थितम्"**॥ यह अनन्त ज्योति ही स्वेच्छारूपी तूलिका से आत्म भित्ति पर विश्व को उन्मीलित करती है अर्थात् मायात्मक चित्रों का चित्रण करती है। यहां कतिपय विद्वानों का मत है कि जिस प्रकार दूध का परिणाम दही है उसी प्रकार चित् शक्ति भी शिव से पृथ्वी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों के रूप में परिणत होती है। अन्य विद्वानों का मत है कि बिना किसी अन्य सामग्री अथवा उपादान की सहायता से स्वेच्छा अर्थात् ईक्षणात्मिका वृत्ति मात्र से जगद् रूप चित्र का चित्रण होता है। कहा है—

"निरुपादान सम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघाय शूलिने"॥

इस भाव को भक्त कवि तुलसीदास ने भी चित्रित किया है— **"शून्य भित्ति पर चित्र रंग ज्यों तनु बिन लिखा चितेरे"** यह सर्वात्मक आत्मा का चैतन्य रूप स्वभावतया आनन्दमय है अतएव इसको निसर्गानन्द कहा गया है अर्थात् इसका उदय विषय सामग्री के सम्पर्क के बिना ही होता है अतः इस में अद्वितीय सौन्दर्य भी है।

यह निर्विकल्प तत्त्व ही प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमाणात्मक विकल्प के रूप में प्रसृत होकर त्रिकोणाकार प्रकट होता है। अर्थात् इच्छा-ज्ञान क्रिया रूप हो जाता है। इसका अर्थ है कि शिव स्वयं ही विश्व रूप परिणाम का आधार है। शक्ति से विशिष्ट शिव ही जगत् का कारण है अतएव काम कला के अन्तर्गत शिव ही कामाख्य बिन्दु हैं। इस तथ्य को सरल रूप से स्पष्ट करने के हेतु कामेश्वर शिव के अङ्क को पर्यङ्क रूप प्रतिपादित कर कामेश्वरी को शिव रूप पर्यङ्क पर आश्रित दर्शाया गया है। अतएव कहा है—

"विश्वाकारप्रथाधार निजरूप शिवाश्रयम्।
कामेश्वराङ्क पर्यङ्क निविष्टमतिसुन्दरम्॥"

(योगिनी हृदय)

इसी कारण श्री चक्र पूजन में महा चक्राधिरोहण के समय कामेश्वरी ललिता को कामेश्वर के अङ्करूप पर्यङ्क पर उपविष्ट कल्पित कर पूजा की जाती है।

पूजा पद्धति में मन्त्र है **"ऐं ह्रीं श्रीं श्री ललितायै नमः कामेश्वराङ्क-पर्यङ्कोपवेशनं कल्पयामि नमः"॥**

जब चित् विमर्श शक्ति आत्म-भित्ति पर विश्व के प्रकाश का आमर्शन करती है तब वही ईक्षण मात्र शक्ति क्रियाशक्ति में परिणत होकर 'मोदनाद् द्रावणाच्च' व्युत्पत्ति के अनुसार विश्व का मोदन एवं द्रावण करने के कारण मुद्रा नाम से व्यवहृत की जाती है। मोदन का अर्थ है अनुकूल क्रिया एवं द्रावण का अर्थ है एकरसी भाव। इसका तात्पर्य है कि जब विमर्श शक्ति विश्व रूप में विहार करने की इच्छा करती है तब क्रिया शक्ति बनकर स्वयं के विकार भूत विश्व को परचिदानन्दात्मक मोद से भर देती है तथा देवता के तादात्म्य से साधक के चित्त को एकरसता प्रदान करती है। इन मुद्राओं की संख्या दश है जिनका

उपयोग त्रैलक्य मोहन आदि चक्रों की पूजा में किया जाता है। यह दश मुद्रायें बाह्यत: शरीर की रचना विशेष हैं जिनके चित्र पीताम्बरा पीठ से मुद्रित श्री महा त्रिपुरसुन्दरी पूजा पद्धति में उपलब्ध हैं। यहां इनके रहस्यार्थ की किञ्चित् पर्यालोचना की जाती है।

(१) **त्रिखण्डा मुद्रा**—जब विमर्श रूपिणी सम्वित् का त्रिकलामयी अम्बिका एवं शान्ता रूप में आविर्भाव होता है तब इसका त्रिखण्डात्मक रूप हो जाता है। अम्बिका की वामा, ज्येष्ठा, रौद्री नामक तीन कलायें कही गई हैं तथा इच्छा–ज्ञान–क्रिया नामक शक्ति रूप कलाओं की समष्टि शान्ता है। दक्षिण हाथ की अंगुलियां वामा आदि का रूप होने से प्रकाश की अंश हैं तथा वाम हाथ की अंगुलियाँ इच्छा आदि शक्ति का रूप होने से विमर्श की अंश हैं। दोनों हाथों की अंगुलियों के योग रूप बन्धन से युक्त त्रिखण्डा मुद्रा को अम्बिका एवं शान्ता के त्रिखण्डात्मक स्वरूप की भावना को व्यक्त करने के हेतु त्रैलोक्य मोहन चक्र की पूजा के समय प्रदर्शित किया जाता है। इस मुद्रा से त्रिपुरा का सान्निध्य प्राप्त होता है। अत: इसको श्री चक्र स्थित नव चक्रों की नव मुद्राओं को समष्टि रूप कहा गया है।

(२) **सर्व-संक्षोभिणी मुद्रा**—यह मुद्रा अम्बिका शक्ति की क्रियात्मक वामा कला का स्वरूप है। **"विश्वस्य वमनात् वामा"** व्युत्पत्ति के अनुसार वामा कला विश्व की सृष्टि कर्तृ है। समस्त विश्व की विक्षोभकारिणी बामा शक्ति की प्रधानता के कारण इस मुद्रा को सर्वसंक्षोभिणी नाम से व्यवहृत किया जाता है।

(३) **सर्व-विद्राविणी मुद्रा**— इस मुद्रा में ज्येष्ठा शक्ति की प्रधानता होती है अत: यह मुद्रा क्षुब्ध विश्व की स्थिति कर्त्री है। अतएव इसको अम्बिका की ज्येष्ठा कला का स्वरूप कहा है तथा स्थूल नाद कलारूपा प्रदिपादित किया गया है। शब्द का सूक्ष्मरूप नाद है तथा स्थूल रूप अक्षर हैं। अकार आदि षोडश स्वरों को कला नाम से

व्यवहृत किया जाता है। शब्द के सूक्ष्म एवं स्थूल अर्थात् विशेष एवं सामान्य उभय धर्मों के योग के कारण इसको सर्वानुग्रहकारिणी कहा गया है। अनुग्रह शब्द का अर्थ विद्राण है। इस का अर्थ है कि इस मुद्रा के प्रदर्शन से विश्व विकल्पों का एकीकरण हो जाता है। सर्वाशा परिपूरक चक्र में इस मुद्रा का स्फुरण होता है।

(४) **सर्वाकर्षिणी मुद्रा**— इस मुद्रा में ज्येष्ठा एवं वामा शक्ति का समत्व रहता है अतः यह मुद्रा शक्ति द्वय के सामरस्य की प्रतिपादक है। यह मुद्रा सर्व संक्षोभण चक्र की पूजा में उपयोगी है।

(५) **सर्व वशंकरी**— इस मुद्रा के सम्वन्ध में परम शाक्त श्री भास्करराय ने नव्य मत के अनुसार कहा है कि जिस प्रकार यह बाह्य आकाश है उसी प्रकार अन्तः में हृदयाकाश है— श्रुति कहती है **"यावान्वा अयमाकाशः तावानेषोऽन्तः हृदय आकाशः"**। यह मुद्रा हृदयाकाश में बिन्दु रूप से विद्यमान, परस्पर प्रगाढ आश्लिष्ट शिव-शक्ति उभय का स्वरूप है। शिव एवं शक्ति के इस आनन्दात्मक विग्रह की भावना से संवित् (ज्ञान) में दिव्य आवेश हो जाता है। प्राचीन मत से यह मुद्रा आधार से आज्ञापर्यन्त षट् चक्रों के अन्तराल में स्थित शून्यों की द्योतक है। दो दो चक्रों के मध्य में एक एक शून्य है इस प्रकार पांच बिन्दु हैं जो पञ्च प्रणव के स्थान हैं। शक्त्यात्मक वाम अंगुलियों एवं शिवात्मक दक्षिण अंगुलियों के संयोग से अर्थात् शिव-शक्ति के संश्लेष से सर्व वशंकरी मुद्रा का प्रदर्शन किया जाता है।

(६) **सर्वोन्मादिनी मुद्रा**— उपर्युक्त पञ्च बिन्दुओं में आधार से आज्ञा पर्यन्त एक सूक्ष्मरूपा वह्नि-शिखा का सञ्चार होता है। यह सर्वोन्मादिनी मुद्रा उस वह्नि शिखा का स्वरूप है। प्राचीन मत के अनुसार मूलाधार एवं ब्रह्मरन्ध्र के मध्य स्वयंभू एवं पर नामक दो लिङ्ग हैं इन के अन्तराल में अमृत कुण्डलिनी ही वह्नि शिखा है जो अम्बिका एवं शान्ता रूपों में विलास करती है। इस मुद्रा से साधक उन्मत्तवत् समस्त व्यापार से पराङ्मुख होकर शिव-शक्ति के सामरस्य का अनुसन्धान करता है।

(७) खेचरी मुद्रा—

"धर्माधर्मस्य संघट्टादुत्त्थिता वित्तिरूपिणी।
विकल्पोत्त्थ क्रिया लोप रूप दोष विघातिनी॥
विकल्प रूप रोगाणां हारिणी खेचरी परा।
सर्व रोग हराख्ये तु चक्रे संविन्मयी स्थिता"॥

यहां सृष्टि आदि सकल धर्म परक होने के कारण शक्ति धर्म है तथा उन सकल धर्मों से रहित होने के कारण शिव अधर्म है। इस प्रकार शिव-शक्ति के सामरस्य से उत्त्थित संवित्ति की अनुभूति से विकल्प अर्थात् संशय रूपी अज्ञान का लोप हो जाता है। यह विकल्प ही रोग हैं जिनसे जीव पीडित रहता है। शिव से परिपूर्ण भाव के कारण मैं ऐसा करूँ अथवा न करूँ इस संशयात्मक दशा का लोप हो जाता है एवं पूर्णत्व का आविर्भाव होता है। कहा है—

"अपूर्णम्मन्यता व्याधिः कार्पण्यैकनिदानभूः"

अर्थात् जीव शिव स्वरूप होते हुए भी स्वयं को अपूर्ण मानता है यह अपूर्णम्मन्यता भाव ही व्याधि है जो जीव के कार्पण्य का कारण है। परम शिव के सामरस्यात्मक पर रूप में अधिष्ठित एवं निर्विकल्प बोध भूमि में सञ्चरणशील चित्शक्ति खेचरी ही सकल खेद को संहार करने में समर्थ है। सर्व रोग हर नामक चक्र में खेचरी मुद्रा के प्रदर्शन की विधि कही गई है। खेचरी मुद्रा के प्रदर्शन से तुरन्त प्राणापान का समायोग हो जाता है अर्थात् प्राण एवं अपान दोनों अस्त हो जाते हैं। यह मेरा व्यक्तिगत अनुभव भी है।

(८) बीज मुद्रा—

"शिवशक्ति समाश्लेष स्फुरद्व्योमान्तरे पुनः।
प्रकाशयति विश्वं सा सूक्ष्मरूपस्थितं सदा॥

बीजरूपा महामुद्रा सर्वसिद्धिमये स्थिता।
सम्पूर्णस्य प्रकाशस्य लाभ भूमिरियं पुनः"॥

अर्थात् शिव-शक्ति के सामरस्य में स्फुरित व्योम के अन्तर्गत अर्थात् प्रकाश-विमर्श रूप सूक्ष्मतर गगन के अन्तराल में सूक्ष्म रूप में स्थित विश्व सर्वदा प्रकाशित होता है जिस की बीज मुद्रा से अनुभूति होती है। इस बीज नामक मुद्रा के अन्तर्गत शिव से भूमि पर्यन्त तत्त्वों की उत्पत्ति होती है अतः भावी चराचर रूप विश्व की उत्पत्ति का हेतु होने से बीज मुद्रा का प्रदर्शन सर्व सिद्धिप्रद चक्र की पूजा में किया जाता है। यह सम्पूर्ण प्रकाश के लाभ की भूमि है।

(९) योनि मुद्रा--

"योनि मुद्रा कला रूपा सर्वानन्दमये स्थिता।
क्रिया चैतन्य रूपत्वादेवं चक्रमयं स्थितम्"॥

यह योनि मुद्रा पूर्ण प्रकाशात्मक शिव के लाभ की भूमिका है। योनि त्रिकोण है। इच्छा-ज्ञान-क्रिया के सामरस्य रूप त्रिकोण के अन्तराल में हार्द कला अर्थात् विमर्श शक्ति का स्थान है। अतएव शिव-शक्ति के सामरस्य से समुदित परानन्दमय परमबिन्दु रूप सर्वानन्दमय नामक चक्र में योनि रूप त्रिकोण का अवस्थान है। यही योनि मुद्रा है जिस के अभ्यास से शिवत्व की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार त्रिपुर सुन्दरी के महाचक्र के सङ्केत का निरूपण किया गया है। चक्र का यह सङ्केत जीवन मुक्ति का प्रवर्तक है तथा इस के ज्ञान से शिवाहं भावना का प्रवर्तन होता है।

---:o:---

मन्त्र–संकेत

उपर्युक्त चक्र सङ्केत में प्रतिपादित त्रिपुरसुन्दरी का बोध मन्त्र द्वारा होता है। अतएव देवता त्रिपुर सुन्दरी वाच्य है एवं मन्त्र उसका वाचक है। वाच्य वाचक शब्दों को ही अभिधान, अभिधेय, नाम-नामी पर्याय के द्वारा व्यवहृत किया जाता है। वाच्य एवं वाचक में अभेद सम्बन्ध शास्त्र में प्रतिपादित है। वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने कहा है:—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते"॥

मनन से जो साधक को त्राण देने वाला है उसको मन्त्र नाम से कहा गया है। यह मन्त्र चित् मरीचियों का स्वरूप है। वाचक होने के कारण वैखरी वाणी के विलास की स्वरूप सौभाग्य विद्या (पञ्चदशी मन्त्र) मनन मात्र से साधक का त्राण करती है एवं देवता से तादात्म्य का सम्पादन करती है।

चक्रेश्वरी का नवधा उपाधियों के कारण एक ही मन्त्र नवधा विभाजित हो जाता है जिस की नव विद्याओं के रूप में प्रसिद्धि है —**करशुद्धि करी, आत्मरक्षा करी, आत्मासनगता, चक्रासन गता, सर्वमन्त्रासनस्थिता, साध्य सिद्धासना, मूर्ति विद्या, आवाहनी विद्या तथा भैरवी** नव विद्याएँ हैं। नवधा विद्याओं के नाम क्रमश: **त्रिपुरा, त्रिपुरेश्वरी, त्रिपुर सुन्दरी, त्रिपुर वासिनी, त्रिपुरा श्री, त्रिपुर–मालिनी, त्रिपुरासिद्धि, त्रिपुराम्बिका, भैरवी** हैं।

(१) कर अर्थात् हाथों की गणना कर्मेन्द्रियों के अन्तर्गत होती है। कर्मेन्द्रियां अशुद्ध तत्त्व है। कर शुद्धकरी विद्या पराहन्ता की प्रतिपादक है अतः अशुद्ध तत्त्व को शुद्ध पराहन्ता तत्त्व में लय करने की भावना कर-शुद्धकरी विद्या से सिद्ध होती है।

(२) आत्मरक्षाकरी विद्या भेद-प्रपञ्चात्मक प्रतिपक्ष से पराभव रूप संकट का साधक को सदैव भय रहता है। अभेद प्रतीतिरूप पराहन्ता के प्रतिपादन से आत्मरक्षा-करी विद्या साधक की रक्षा करती है।

(३) आत्मासनगता विद्या–आत्म, चक्र, मन्त्र, देवता का स्व संवित्ति के रूप में अनुसंधान करना आत्मासनगता विद्या है। इस आसन–विद्या से शिवमयत्व का भास होता है।

(४) तदनन्तर चक्रासनगता चौथी विद्या है।

(५) अखिल चित् मरीचि के रूप में प्रसृत आवरण देवता एवं मन्त्र को आसन रूप में स्वीकार करने के कारण सर्वमन्त्रासनस्थिता विद्या कही जाती है।

(६) साध्य सिद्धासना विद्या–साधक के लिये पृथ्वी चक्र से बिन्दु पर्यन्त संहार क्रम की अनुभूति ही साध्य है। अथवा सृष्टि क्रम एवं संहार–क्रम से अनुसन्धीयमान आवरण देवता को आसन के रूप में मान्य कर जो योगिनी उत्पन्न होती है वह साध्य सिद्धासना विद्या है।

(७) मूर्ति विद्या परा –ब्रह्म–विष्णु–रुद्रात्मक बीजत्रय अर्थात् ऐं क्लीं सौः से युक्त परा नामक सातवीं विद्या है जिस से त्रिपुर सुन्दरी की मूर्ति की कल्पना होती है।

(८) आठवीं आवाहिनी विद्या है। सिद्धान्ततः आत्मा का मन से, मन का इन्द्रियों से, तथा इन्द्रियों का अर्थ से योग होता है। अतएव इस रीति से स्वहृदय कमल में स्फुरित संवित् कला का बाहरी अर्थों के रूप में जो प्रसरण होता है उस को आवाहनी विद्या कहा गया है।

(९) नवमी विद्या भैरवी है जो विश्व की स्थिति का हेतु होने से विश्व का भरण करती है। पर चित् में अवसान होने से संहार कर्तृ है। एवं विश्व का वमन करने के कारण सृष्टि कर्तृ है। इस प्रकार विश्व की

भरण, रवण एवं वमन कर्तृ होने से यह भैरवी नाम से सम्बोधित की जाती है। नव प्रकार की विद्याओं का विधिवत व्यापक न्यास करने से साधक त्रिपुराकार हो जाता है।

न्यास

शारदा तिलक के अनुसार साधक की आत्मा ही देवता है अतएव स्वयं को देवता के रूप में कल्पित करने का नाम न्यास है। कहा है—

"स्वात्मैव देवता प्रोक्ता मनोज्ञा विश्व विग्रहा।
न्यासस्तु देवतात्मत्वात् स्वात्मनो देहकल्पना"।

न्यास द्वारा साधक अपने अङ्गों में तदनुरूप देवत्व की स्थापना करता है। महार्थ मञ्जरी में कहा गया है कि विकल्प का विक्षोभ कर, चरण आदि अङ्गों के रूप में होता है अतएव स्वाभाविक पूर्णाहं भावनात्मक निर्विकल्प आमर्शन ही अङ्गन्यास है।

इस प्रकार नव प्रकार के आकारों में विभक्त अजर एवं अमर आद्या शक्ति की पूजा काल में स्वाभाविक एकाकार अनुभूति होती है। परम शिव की सामरस्य रूपा परा के सौभाग्य विद्या नामक मन्त्र (अर्थात् पञ्चदशी मन्त्र) के अनेक सङ्केतक (अर्थ) हैं जो कर शुद्धि आदि प्रपञ्च परम्परा से उपलक्षित होते हैं।

मन्त्रार्थ निरूपण

शास्त्र का स्पष्ट मत है कि जो विद्या को जानता है वही मुक्त है। कहा है "**विदिता येन स मुक्तो भवति**"। तथा—"**ब्रह्म विद्ब्रह्मैवभवति। स एवं पश्यन्नेवं मन्वानं एवं जानन्नात्मरतिरात्म क्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स एव भवति**"। अर्थात् ज्ञान पूर्वक अनुष्ठान से ही ब्रह्म से साक्षात्कार होता है। श्री भास्कर राय ने वरिवस्था रहस्य में कहा है कि

जिस प्रकार वह्नि विहीन भस्म में प्रक्षिप्त हवि प्रज्वलित नहीं होता है उसी प्रकार बिना अर्थ–ज्ञान के शब्द का उच्चारण फलित नहीं होता है। अर्थ के ज्ञान के बिना जो मन्त्र का पाठ मात्र करता है वह चन्दन भार-वाही खर के समान है।

"अर्थमजानानां नानाविध शब्द मात्र पाठवताम्।
उपेयश्च चक्रीवान् मलयजभारवाहस्य वोढैव" ॥

अतएव साधना का परमोपयोगी अङ्ग होने से हम यहां सौभाग्य विद्या अर्थात् पञ्चदशी महामन्त्र के अनेकों अर्थों में से कतिपय अर्थों के सार का निर्वचन करते हैं।

परम शिव के हृदयस्थ होने के कारण यद्यपि यह विद्या परम गोपनीय है तथापि इसका अक्षरात्मक बाह्य रूप स्वयं शिवने प्रकट किया है एवं शास्त्र का दूसरा पक्ष यह भी है कि गोपनीयता से सत्य का ह्रास हो जाता है तथा अनृत के बिना गुप्ति सम्भव भी नहीं है अतएव कुल साधना का प्रकाशतः अनुष्ठान वर्जित नहीं है। कहा है—

"गोपनाद्धीयते सत्यं न गुप्तिरनृतं विना।
तस्मात् प्रकाशतः कुर्यात् कौलिकः कुलसाधनम्" ॥

उभय दृष्टिकोणों का सम्मान करते हुए हम यहां मन्त्र का उद्धार नहीं कर रहे हैं। मन्त्र केवल गुरुमुख से श्रवण करने का विधान है तथापि अर्थ के प्रतिपादन के लिये यथा स्थान मन्त्र के वर्णों का कथन किया गया है।

मन्त्रराज का स्वरूप

महामन्त्र में पन्द्रह अक्षर हैं अतः इस को पञ्चदशी मन्त्र के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह पन्द्रह अक्षर तीन भागों में विभाजित हैं। प्रथम भाग का नाम वाग्भव कूट है इस में क, ए, ई, ल, ह्रीं पांच

अक्षर हैं। दूसरा भाग कामराज नामक कूट हैं इसमें ह, स, क, ह, ल, ह्रीं, ६ अक्षर हैं। तृतीय कूट का नाम शक्ति कूट है, इस में स, क, ल, ह्रीं चार अक्षर है। इस प्रकार अक्षरों की संख्या पन्द्रह है।

मन्त्रराज की उत्पत्ति

"योगिनीभिस्तथा वीरैः वीरेन्द्रैः सर्वदा प्रिये।
शिवशक्ति समायोगाज्जनितो मन्त्रराजकः॥"

(यो. हृ.)

अर्थात् योगिनी, वीर, वीरेन्द्र, एवं शिव–शक्ति के समायोग से मन्त्रराज की उत्पत्ति होती है। विमर्श की अंशभूत इच्छा–ज्ञान–क्रियात्मक शक्तियों का रूप भारती, पृथ्वी, रुद्राणी है जिनको योगिनी कहा गया है क्योंकि इनका शिव से नित्य सम्बन्ध है। **"शिव सम्बन्धो नित्यं विद्यते आसामिति योगिन्यो"**। इनके वाचक अक्षर लकार हैं। अतएव मन्त्र के तीनों कूटों में लकार का तीन बार प्रयोग हुआ है। जिनका योगिनियों से नित्य सम्बन्ध है, वह प्रकाश के अंश भूत वामा–ज्येष्ठा–रौद्री रूप ब्रह्म–विष्णु–रुद्र विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं संहारकर्ता होने से वीरेन्द्र कहे गये हैं। इनके वाचक अक्षर ककार हैं अतएव मन्त्र में ककार का तीन बार प्रयोग हुआ है। **"त्रितय भोक्ता वीरेशः"** अर्थात् शिव सूत्रों में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में जो अप्रच्युत रह कर तत्त्व का अनुसन्धान करता है उस त्रितय भोक्ता को वीरेश कहा है। मन्त्र में प्रयुक्त हकार, सकार एवं ईकार वीरपरक हैं इस प्रकार तीन ककार, तीन लकार एवं ह स ई अक्षर की नवसंख्या होती है तथा 'ए' दशवाँ अक्षर है जो शिव–शक्ति के समायोग का वाचक है इस प्रकार 'ए' कार के साथ अक्षरों की संख्या दश हो जाती है। यह दश अक्षर मन्त्र की शक्तियों के वाचक हैं अतएव यह दश विद्याओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। ह्रीं पद देवी का वाचक है। इस प्रकार भारती आदि योगिनी, ब्रह्मादि वीरेन्द्र, एवं शिव–शक्ति की समष्टि रूप

मन्त्रराज की वीर अर्थात् साधकों द्वारा भावना की जाती है। अतएव इस को मन्त्र का भावार्थ कहा गया है।

शिव–शक्ति के वाचक वर्ण अकार एवं हकार हैं। अकार एवं हकार का शून्याकार परस्पर श्लिष्ट अहं स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। उपनिषदों में अहं को ही ब्रह्म निरूपित किया है। यह अहं पद तुर्य कामकला आदि शब्दों से भी निर्दिष्ट है। अहं से ही शाब्दी एवं आर्थी सृष्टि का विकास होता है अतः विश्व अहंतामय है। अकार एवं हकार महामन्त्र में समाविष्ट हैं अतएव मन्त्र, मातृका एवं विश्व का तादात्म्य सिद्ध होता है। इस तादात्म्य की भावना को भावार्थ कहा है।

निगर्भार्थ

महामन्त्र के निगर्भार्थ से तात्पर्य है शिव, गुरु एवं शिष्य का तादात्म्य। शास्त्र प्रतिपादित करता है कि वाङ, मन एवं इन्द्रियों से अतीत, नीरूप, निर्विकल्प, निर्द्वन्द्व परम शिव एवं समस्त विद्या के ज्ञाता, धर्म परायण आचार्य गुरु में कोई भेद नहीं है। आत्मा शिष्य का रूप है। गुरु की कृपा कटाक्ष से अहंभाव एवं संसार कलङ्क से मुक्त होकर शिष्य शिवत्व प्राप्त करता है। अतएव शिव, गुरु एवं शिष्य में कोई भेद नहीं रह जाता है। कहा है—

> "गृणते तत्त्वमात्मीयमात्मीकृत जगत्त्रयम्।
> उपायोपेय रूपाय शिवाय गुरवे नमः"॥

रहस्यार्थ

सूर्य की द्वादश कलाओं से युक्त, पञ्चाशत वर्णों से अभिन्न, एवं विसतन्तु के समान सूक्ष्म कुण्डलिनी मूलाधार में विद्यमान त्रिकोण में अधोमुख, त्रिवलयाकार प्रसुप्त अवस्था में स्थित रहती है। योगी जन योग क्रिया के द्वारा अधोमुख कुण्डलिनी को ऊपर की ओर उत्थापित

करते हैं जिस से वह ऊर्ध्वमुखी होकर ऋजु रेखा के रूप में परिणत हो जाती तथा मूलाधार, अनाहत एवं आज्ञा चक्र का भेदन कर व्योम में स्थित चिदात्मक शशिमण्डल में स्थित अकुल कुण्डलिनी से संगम करती है। जहां वह चन्द्र मण्डल में स्थित अमृत को स्रावित कर सहस्रार को आप्लावित कर स्वयं को तृप्त करती है। अमृत से मत्त होकर कुण्डलिनी पुनः सुषुम्ना मार्ग से ही लौट कर मूलाधार में प्रवेश करती है तथा अपने स्थान में सुख-पूर्वक शयन करती है। पञ्चदशी महा विद्या का यह रहस्यार्थ है जिस का शास्त्र एवं गुरु से ज्ञान प्राप्त कर साधक स्वयं अनुभव कर सकता है।

महातत्त्वार्थ

मन्त्र के रहस्यार्थ की चर्चा करते हुए कुण्डलिनी की मूलाधार से परमव्योम पर्यन्त क्रमिक यात्रा का जो वर्णन किया गया है इस का आगामी अन्तिम लक्ष्य महातत्त्व है। यह लक्ष्य निष्कल, परम सूक्ष्म, भावरहित अवस्था है जो परम व्योम से अतीत है। यहां इन्द्रियों एवं मन की गति नहीं है। प्रकाशानन्द रूप यह लक्ष्य विश्वोत्तीर्ण भी है एवं विश्वमय भी है। जब साधक की कुण्डलिनी रूप प्राण शक्ति क्रमशः मूलाधार, अनाहत, आज्ञा चक्रों का भेद करती हुई बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका एवं समना स्थानों का अनुसन्धान अर्थात् दृढतर अनुभव कर उन्मनी में प्रवेश करती है तब मन का अन्त हो जाता है। बिन्दु से उन्मनी पर्यन्त नव स्थानों की समष्टि को नाद नाम से व्यवहृत किया जाता है। कहा है— **"बिन्द्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते"**। जिस प्रकार घण्टा के आहत होने पर उस से प्रादुर्भूत नाद की गुञ्जार का शनैः शनैः पूर्ण विराम हो जाता है उसी प्रकार योगी के अन्तः में सञ्चरित नाद के अनुसन्धान अर्थात् दृढतर अभ्यास से बिन्दु से उन्मनी पर्यन्त पहुंचते पहुंचते शब्द का पूर्ण रूप से शमन हो जाता है। कहा है—

"पिण्डो वाचक विस्तरस्य महतः संस्कार शेषस्थिति-
र्नादोऽसौ तव देवि मूर्ध्नि समनासीमानमुल्लङ्घयन्।

घण्टाक्वाण इव क्रमेण विरमन्नन्त्यामणीयस्तम-
माजिघ्रन् परचिद्दशामनुपमां मूर्ति पुराणीमुमे ।।"

उन्मनी पद परम व्योम से ऊपर है। यहां विश्वानुभूति शेष नहीं रह जाती है अर्थात् इन्द्रियों तथा मन द्वारा अनुभूत समस्त ज्ञान का अन्त हो जाता है। इस अवस्था में संकल्पों एवं विकल्पों का उद्रेक निरस्त हो जाता है अतः यह अवस्था तन्त्र में गुप्त कही है। यह अवस्था विश्व से उत्तीर्ण है। इस अवस्था में गुरु की कृपा से प्रबुद्ध आत्मा परम शिव में अनुप्रवेश करती है। यहां साधक को उपनिषदों में उपदिष्ट "**तत्त्वमसि**" महावाक्य की अनुभूति होती है। अर्थात् आत्मा का शिव के साथ तादात्म्य हो जाता है। इस निर्विकल्पात्मक बोध को महातत्त्वार्थ नाम से व्यवहृत किया गया है।

कुछ साधकों का मत है कि इस निर्विकल्प अवस्था का पता अनुमान प्रमाण के द्वारा होता है। किन्तु वस्तुतः यहां प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है, कारण यह कि शिवात्मक यह पद स्वयं प्रकाश स्वरूप है। इस से ही समस्त विश्व का प्रकाश होता है। श्रुति कहती है, "**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**"। एवं गीता का वचन भी है— "**नतद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः**"। अर्थात् सूर्य, चन्द्र, एवं अग्नि की वहां प्रकाश करने की सामर्थ्य नहीं है अपि तु उसके प्रकाश से ही सूर्य आदि प्रकाशित होते हैं।

विश्वोत्तीर्ण अवस्था में साधक स्वयं को शिव रूप में अनुभव करता है तथा समाधि से व्युत्थान होने पर साधक को परम प्रकाश की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। जब शिव प्राणियों के चित्त के रूप में परिस्फुरित होता है तब आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ एवं इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क होता है। परम शिव ही तत् तत् अर्थों में प्रकाशित होता है, अर्थात् परम गोपनीय निर्विकल्प शिव जब विश्व के रूप में प्रकट होता है तब भी "**शिवोऽहमस्मि**" महावाक्य

की अनुभूति होती है। तात्पर्य यह कि जहां जहां जिस जिस वस्तु से इन्द्रियोद्भूत मरीचियों का सम्पर्क होता है वहां वहां शिव के स्वरूप की ही साधक को अनुभूति होती है। कहा है—

"यत्र यत्र मिलिता मरीचय-
स्तत्र तत्र विभुरेव जृम्भते।
तत्सतां हि नियमावलम्बिनाम्,
ध्यान पूजन कथा विडम्बना॥"

अर्थात् साधक को विश्वानुभूति में भी सर्वत्र शिवत्व की अनुभूति होती रहती है।

—:o:—

पूजा–संकेत

क्रमिक योग जिसका पहले प्रतिपादन किया गया है श्री चक्र की आन्तरिक पूजा है, जिस का परा पूजा के नाम से सङ्केत किया जाता है। यह उत्तम पूजा है, कारण यह कि इस प्रकार की पूजा से परम शिव के अद्वैत ज्ञान का स्रोत प्रवाहित होने लग जाता है। कहा है––

"न पूजा बाह्य पुष्पादि द्रव्यैर्या प्रथिताऽनिशम्।
स्वे महिम्न्यद्वये धाम्नि सा पूजा या परास्थिता" ॥

अर्थात् पुष्प चन्दन आदि उपचारों से जो पूजा की जाती है वह वास्तविक पूजा नहीं है। अद्वैत भाव से स्वात्म स्वरूप में अच्युत स्थिति ही यथार्थ पूजा है। परा पूजा में जीव अपने परिच्छिन्न स्वरूप से ऊपर उठकर स्वयं अपरिच्छिन्न चित्, शिव स्वरूप हो जाता है।

योगिनी हृदय की सेतुबन्ध टीका में श्री भास्कर राय ने द्वैतानुभूति के सामान्य अभाव को परा पूजा कहा है। **"द्वैतभान सामान्याभावे परा"।** परा पूजा की अवस्था में साधक को द्वैत की अनुभूति शेष नहीं रह जाती है तथा जहां जहां मन जाता है वहां, बाह्य जगत् में अथवा अन्त: जगत में, सर्वत्र इन्द्रियों के व्यापार में चैतन्य ही अभिव्यञ्जित होता है। कहा है––

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाभ्यन्तरे प्रिये।
तत्रतत्राक्ष मार्गेण चैतन्यं व्यज्यते प्रभोः ॥

श्री चक्र की पूजा में सर्व प्रथम सहस्रार में स्थित गुरुपादुका के परामर्श का विधान है तदनन्तर प्रसाद ग्रहण किया जाता है। परम शिव में दृढतर अद्वैत-भावनात्मक समावेश ही प्रसाद है जिससे आनन्दित होकर साधक मत्त हो जाता है। कहा है–– **"प्रकर्षेणासादनं प्रसादः**

भेदापसरणेनाभेदोपपत्त्या स्वात्मैक्यता प्रतिपादनम्"। प्रसाद स्वीकार करने के अनन्तर जप का विधान है। इन्द्रियों के सञ्चार को संयमित कर आन्तर नाद के उच्चार को जप कहा गया है। विकल्पात्मक नाना विध अक्षरों के उच्चारण के रूप में अनुष्ठित बाह्य जप वास्तविक जप नहीं है। कहा है—

"संयम्येन्द्रिय सञ्चारं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम्।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्य जपो जपः॥"

जप के अभ्यास से साधक तन्मय हो जाता है। "**जपः तन्मयता रूपं भावनं सम्यगीरितम्**"॥ अमृतानन्द योगी का कथन है कि इसी कोटि का ध्यान भी करना चाहिये जैसा कि विज्ञान भैरव में कहा है—

"ध्यानं या निष्कला चिन्ता निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीरस्य मुख हस्तादि कल्पना"॥

अर्थात् निष्कल, निराकार, निराश्रय चिन्तन का नाम ध्यान है किसी कल्पित देवता के मुख, हस्त आदि की कल्पना को ध्यान नहीं कहा गया है।

द्वितीय श्रेणी की पूजा का नाम परापरा पूजा है। इस पूजा में साधक द्वैत के विलय का अभ्यास करता है। इस अवस्था में अद्वैत अनुभूति का विशुद्ध रूप में आविर्भाव नहीं हो पाता है अपितु साधक में यह भावना घर करने लग जाती है कि समस्त बाह्य जगत् आभ्यन्तर चिन्मय स्वरूप में विलीन होता जा रहा है। कहा है—"**बाह्यान्तरे धाम्न्यद्वये चिल्लय भावनामयी परापरात्मकत्वात्**"। उत्तम पूजा में भावना की आवश्यकता नहीं होती है किन्तु जब तक चरम स्थिति का उदय न हो तब तक ही पूजा में भावना का स्थान है।

तीसरी प्रकार की पूजा का नाम अपरा पूजा है। यह पूजा निम्न कोटि की है, कारण यह कि इस प्रकार की पूजा में साधक चक्र, आवरण आदि की बाह्य रचना कर, गन्ध पुष्प आदि विविध द्रव्यों से पूजा का विधान रचता है अतः द्वैत मात्र की अनुभूति होती है। श्री भास्करराय ने सेतुबन्ध टीका में अपरा पूजा की परिभाषा करते हुए लिखा है कि इस पूजा में अद्वैत अनुभूति का सामान्य अभाव रहता है— **"अद्वैतभान सामान्याभावे तु अपरा"** ॥

परा, अपरा एवं परापरा तीनों प्रकार की पूजा का सम्बन्ध श्री चक्र से है। शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों का विकास श्रीचक्र, मन्त्र एवं पूजा विधान पर ही आश्रित है। वेदान्तिक पूजा में भी उपर्युक्त सङ्केत-त्रय का आश्रय लिया गया है। श्री युत गौडपादाचार्य ने सुभगोदय नामक स्तुति में तथा श्रीमद्शङ्कराचार्य ने सौन्दर्यलहरी नामक ग्रन्थ में समयाचार, षट् चक्र एवं त्रिपुर सुन्दरी का विस्तृत, अत्यन्त रोचक एवं सौन्दर्य पूर्ण निरूपण किया है। इस प्रकार शैव, शाक्त एवं वेदान्त का पूजा विधान एवं अन्तिम लक्ष्य एक अद्वैत निर्विकल्प तत्त्व की प्राप्ति है।

अपरा एवं परापरा पूजा परा स्थिति की प्राप्ति में सहायक है अतः इनका अभ्यास भी प्रारम्भिक अवस्था में आवश्यक है।

बाह्य पूजा में स्थूल सामग्री की आवश्यकता होती है जैसे आसन, जल, अर्घ्य, पाद्य, पुष्प, नैवेद्य, दीप आदि। आन्तर पूजा में इन समस्त पूजा पदार्थों का अर्थ बदल जाता है। उदाहरण के हेतु कतिपय उपचारों की परिभाषा आन्तरिक पूजा के सम्बन्ध में भावनोपनिषद एवं भास्कर-राय के मतानुसार प्रस्तुत करते हैं। यथा—

रत्न द्वीप देह है, संकल्प कल्पतरु है, ज्ञान अर्घ्य है, ज्ञेय हवि, ज्ञाता होता, एवं ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय की अभेद भावना का नाम श्री चक्र पूजा है। अव्यक्त, महत्, अहंकार ही त्रिकोणस्थ कामेश्वरी, वज्रेश्वरी, भग-मालिनी देवता हैं। अपनी आत्म निष्ठा ही आसन है, अस्ति, भाति,

प्रिय अंश के भावना रूपी जल से नाम-रूपात्मक मल का प्रक्षालन ही पाद्य है, भावना रूप जल को पान कर निर्विकल्प अनुभूति ही आचमन है। सत्-चित्-आनन्द अवयवों का अभेद भावना रूप जल से सम्पर्क ही स्नान है। आकाश तत्त्व ही देवता के लिये वसन है। चित्त चषक है जिस से तादात्म्य रूप प्रसाद ग्रहण किया जाता है। प्राण धूप है, अनाहत ध्वनि घण्टा है, वायु चामर है आदि। जैसा कि कहा है--

"आकाशतत्त्वं वसनं, गन्धंतु गन्धतत्त्वकम्।
तेजः तत्त्वं च दीपार्थे, नैवेद्यं च सुधाम्बुधिम्।
अनाहत ध्वनि घण्टां वायुतत्त्वं च चामरम्"॥

चित्तवृत्ति का विषयों में इतस्ततः भ्रमण को निरुद्ध कर ब्रह्म में लय करना ही प्रदक्षिणा है। मेरा-तेरा, अस्ति-नास्ति, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि विकल्पों का आत्मा में लय करना ही होम है। जैसा कि कहा है--

"अन्तर्निरन्तरमनिन्धन मेधमाने,
मोहान्धकार परिपन्थिनि संविदग्नौ।
कस्मिञ्चिदद्भुत मरीचि विकास भूमौ
विश्वं जुहोमि वसुधादि शिवावसानम्"॥

अर्थात् अन्तः में निरन्तर प्रज्वलित, निरिन्धन, मोहान्धकार की शत्रु रूप संविद् अग्नि में पृथ्वी से शिव पर्यन्त षट् त्रिंशत तत्त्वों को हवन करना ही होम है। अथवा धर्माधर्म रूप हवि से दीप्त आत्माग्नि में मन रूपी स्रुच से नित्य सुषुम्णा मार्ग से इन्द्रियों की वृत्तियों का हवन करना ही होम है। यथा--

धर्माधर्महविर्दीप्त आत्माग्नौ मनसा स्रुचा।
सुषुम्नावर्त्मना नित्यमक्ष वृत्तीर्जुहोम्यहम्॥

बलि—आन्तर पूजा में श्वास द्वय का निरोध एवं कुण्डलीत्रय के मेलन से जीव-शिव के ऐक्य का निरूपण ही आन्तरिक बलि है। यथा–

"श्वासद्वय निरोधेन कुण्डलीत्रय मेलनात्।
यज्जीव शिवयोरैक्यं तेनासावान्तरो बलिः॥"

तर्पण— विषयाणामभेदभावनं तर्पणं। अर्थात् विषयों में अभेद भावना का नाम तर्पण है।

ताम्बूलं—अवस्थात्रयाणामेकीकरणं ताम्बूलं। अर्थात् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं के एकीकरण का नाम ताम्बूल है, तथा तुर्यावस्था नमस्कार है।

श्रीमद्भगवत्गीता में भी कहा है—

"श्रेयः द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञान यज्ञः परन्तप"॥

इस पर्यालोचना से स्पष्ट हो जाता है कि साधक को प्रारम्भिक अवस्था में बाह्य साधनों के कारण केवल भेद-ज्ञान का अनुभव होता है अतः यह निकृष्ट प्रकार की साधना है। तदनन्तर आन्तरपूजा में भेदाभेद की भावना रहती है। यह मध्यम पूजा है। इन दोनों प्रकार की पूजा से साधक में विशुद्ध अद्वैत पूजा की पात्रता का विकास होता है तदनन्तर परा पूजा में पूर्ण अभेदात्मक अद्वैत बोध का लाभ होता है। कहा है—

"स्वप्रकाश वपुषा गुरुः शिवो
यः प्रसीदति पदार्थ मस्तके।
तत्प्रसादमिह तत्त्वशोधनं
प्राप्य मोदमुपयाति भावुकः"॥

अर्थात् शिवरूप गुरु जब स्वयं प्रकाशित होकर प्रसन्न होते हैं तब सभी तत्त्वों का शोधन हो जाता है तथा चिदात्म रूप की अनुभूति होती है। गुरु को आत्मरूप में भावित करना ही परा पूजा है। अथवा निर्विकल्प महाकाल में लय हो जाना परा पूजा है। पूजा की परिभाषा करते हुए लिखा गया है—

"पूजा तु चञ्चलत्वेऽपि त्वन्मयत्वाप्रमत्तता" ॥

अर्थात् चञ्चल अवस्था में भी प्रमाद रहित तन्मयता का नाम पूजा है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन श्रीमत् शंकराचार्य ने भी शिव मानस पूजा में किया है।

"आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं,
पूजा ते विषयोपभोग रचना निद्रा समाधिस्थितिः।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिण विधिः स्तोत्राणि सर्वागिरो,
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्" ॥

अर्थात् आत्मा ही शिव हैं, बुद्धि गिरिजा हैं। विषयोपभोगरचना पूजा है, निद्रा समाधि, प्राण सहचर है। शरीर ही मन्दिर है, तथा जहाँ जहाँ आत्म ज्ञानी के चरणों का सञ्चार होता है वही प्रदक्षिणा है, तथा जिसजिस कर्म का उस के द्वारा अनुष्ठान होता है वह सब भगवान शङ्कर की ही आराधना है।

——:०:——

भैरव–योग

रहस्यार्थ एवं महातत्त्वार्थ के निरूपण में मूलाधार से उन्मनी पर्यन्त प्राण के क्रमिक ऊर्ध्व गमन में जिस क्रिया की चर्चा की गई है वह अत्यन्त जटिल है। इस क्रम–योग का अपर नाम पिपीलिका योग भी है। विज्ञान-भैरव नामक ग्रन्थ में इस की विशेष चर्चा है। आत्मानुभव के समय अर्थात् पिपील-स्पर्श की वेला में प्राण पिपीलिका के समान शनैः-शनैः मूल आदि आधारों का स्पर्श करता हुआ ऊपर की ओर अग्रसर होता है तथा योगी अनुभव करता है कि अमुक स्थान से अमुक स्थान पर प्राण प्राप्त हो गया है। साधक के प्रयत्न से जिस स्थान पर प्राण प्राप्त हो जाता है उसी स्थान पर श्वास-प्रश्वास का निरोध हो जाता है। इस प्रकार के अभ्यास के तीन रूप हैं। प्राण की बाह्य गति के निरोध से बाह्य वृत्ति पूरक, आन्तर गति के निरोध से आन्तरवृत्ति रेचक एवं युगपत् उभय गतियों के निरोध से कुम्भक अर्थात् प्राण-वृत्ति का स्तम्भन हो जाता है। प्राण के सूक्ष्म होने पर मन की प्रशान्ति, मन की शान्ति से प्राण की शान्ति, प्राण शान्ति से विकल्प का शमन होता है। इस प्रकार निर्विकल्प दशा की प्राप्ति के हेतु कष्ट-योग का साधन करना होता है। इससे श्रेष्ठ भैरव योग है जिस को अन्यत्र विहङ्गम योग नाम से भी सम्बोधित किया गया है। यह सुगम होने से सद्य एव सिद्धिप्रद है।

विज्ञान भैरव ग्रन्थ में देवी के प्रश्न एवं भैरव के उत्तर के द्वारा इस योग का निरूपण किया गया है। भैरव के सकल एवं निष्कल भेद से दो रूप हैं। तात्त्विक दृष्टि से आदि से क्षान्त वाच्य-वाचकात्मक बोध भैरव का रूप है। भैरव का यह शब्द राशि एवं कलामय रूप है। अन्य प्रकार से भैरव को नवात्मक कहा जाता है। अ वर्ग, क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग, य वर्ग, श वर्ग एवं क्षकार वर्ण माला के नव वर्ग हैं जो भैरव के ही रूप हैं। अतः इस दृष्टि से भैरव को

नवात्मक निरूपित किया गया है। नवात्मक भैरव के नाम (१) लकुलेश (२) भृगु (३) संवर्तक (४) पिनाकी (५) खड्गीश (६) भुजङ्ग ७) यावन (८) कार्य कारण मस्तक एवं (९) अर्धीश हैं। नव वर्ग ही अनुलोम क्रम से भैरवी तथा विलोम-क्रम से भैरव कहे जाते हैं। वर्ण माला के पचास वर्ण भैरव की विकृति होने से भैरव का ही स्वरूप हैं अतः अनुलोम विलोम क्रम से वर्ण की संख्या एक शत हो जाती है तथा आठ वर्गों के योग से भैरव के एक सौ आठ भेद कहे गये हैं। नर, शिव, शक्ति भेद से भैरव का त्रिधा रूप है। तथा इच्छा, ज्ञान, क्रिया भेद से भैरव को शक्ति त्रयात्मक कहा गया है। इस के अतिरिक्त नाद, बिन्दु, अर्धचन्द्र आदि नव स्थानों के भेद से भी भैरव को नवात्मक प्रतिपादित किया गया है। भैरव यामल आदि तन्त्रों के अनुसार यहां भी भैरव के उपर्युक्त रूपों का यथास्थान किञ्चित् दिग्दर्शन कराया गया है।

उपर्युक्त प्रकार से प्रतिपादित भैरव का स्वरूप सकल है जो परात्मक निष्कल रूप से सर्वथा भिन्न है। वर्ण विशेष, अक्षर विशेष, देश भेद, आकृति विशेष, एवं द्वादशान्त आदि आश्रय विशेष से भैरव के परत्व अर्थात् प्रकृष्टत्व का निर्णय नहीं किया जा सकता है। निष्कल स्वरूप ही उत्कृष्ट है अतः देवी ने भैरव से प्रार्थना की, कि प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता पूर्वक मेरे संशय का छेदन कर तादात्म्य की प्राप्ति का मार्ग प्रदर्शित करिये।

भगवान भैरव ने तन्त्र के सार रूप गुह्य प्रश्न की अनुशंसा करते हुए उत्तर दिया कि शास्त्रों में जिस सकल रूप का प्रतिपादन किया गया है वह असार है, परमार्थतः सत्य नहीं है। भैरव का यह कलात्मक तात्त्विक रूप इन्द्र जाल के समान, अथवा मायात्मक स्वप्न तथा गन्धर्व नगर के समान मिथ्या है। आडम्बर-कीडा में प्रवर्तमान भ्रान्त बुद्धि साधकों की अभ्यास दशा में ध्यान योग के सहायक के रूप में इस का वर्णन किया गया है। तत्त्वतः देवता न नवात्मक हैं, न शब्द राशि रूप हैं, न ही

त्रिशिरात्मक अथवा शक्ति त्रयात्मक है, तथा क्रम योग के संदर्भ में निरूपित, भैरव का बिन्दु आदि नव नादात्मक स्वरूप भी मिथ्या है। अप्रबुद्ध साधकों के लिये यह केवल बाल विभीषिका के (अर्थात् विजूका) के समान है। अथवा फल पूर्ति की दृष्टि से यह केवल मातृ-मोदक के समान है जिस का साधक की रुचि को प्रेरित करने के हेतु उपयोग किया जाता है। भैरव का वास्तविक रूप दिक्-काल एवं कलना से उन्मुक्त है जो परमार्थतः अव्यपदेश्य एवं अकथ्य है।

भैरव का तात्त्विक स्वरूप स्वात्मा के अनुभवात्मक आनन्द से भरित विमल विश्वपूर्ण निर्विकल्पावस्था है। इस प्रकार भैरव के स्वरूप की अनुभूति होने पर पूज्य, पूजक, अथवा तृप्ति का भेद मिट जाता है। विज्ञान-भैरव में कहा है :—

"तत्त्वतो न नवात्मासौ, शब्दराशिर्न भैरवः।
न चासौ त्रिशिरा देवो न च शक्तित्रयात्मकः॥
नाद विन्दुमयो वापि न चन्द्रार्ध निरोधकः।
न चक्र क्रम संभिन्नो न च शक्ति स्वरूपकः॥
अप्रबुद्ध मतीनां हि एता बाल विभीषिका।
मातृ मोदकवत्सर्वं प्रवृत्त्यर्थमुदाहृतम्॥
दिक्काल कलनोन्मुक्ता . . . . . . ।
व्यपदेष्टुमशक्यासावकथ्या परमार्थतः॥
अन्तः स्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचर।
यावस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः॥
तद्वपुः तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम्॥"

चिद्विलास नामक आगम ग्रन्थ में भी इसी प्रकार के भाव का निरूपण किया है:—

"वेदिका हृदय पद्मकर्णिका, चिन्मयो वसति तत्र देवता।
यो हि तत्र यजन कर्म कर्मठस्तस्य पाशभिदुरः स भैरवः॥
यत्स्वरूपमहिमाविकल्पतः शक्तिचक्रमिह रज्जुसर्पवत्।
तत्स्वरूप परमार्थ बोधतः तत्र तस्य विलयो विसर्जनम्"॥

(१) भगवान भैरव भरितावस्था प्राप्त करने के हेतु स्वतः-सिद्ध पूरक कुम्भक एवं रेचक का निरूपण किया जाता है। स्वेच्छा से स्वतः हृदय कमल से बाहिर जो प्राण की गति होती है वह रेचक अवस्था है।

(२) हृदय से द्वादश अङ्गुल पर्यन्त अङ्ग से संस्पर्श करता हुआ प्राण वायु जो बाहर की ओर निःसरण करता है वह पूरक कहा जाता है।

(३) पुरुष के प्रयत्न के बिना बाह्य प्रदेश से अङ्गों का पूरण अर्थात् स्पर्श करते हुए प्राण का जो प्रत्यावर्तन होता है वह भी पूरक है।

(४) अपान के प्रलीन हो जाने पर जब तक प्राण का पुनः अभ्युदय नहीं होता है उस मध्यवर्ती काल को कुम्भक अवस्था निरूपित किया जाता है।

इस कुम्भक अवस्था का केवल योगी ही अनुभव करता है। इस प्रकार प्राण वायु सदा देह से बाहर एवं भीतर प्राणायाम में तत्पर रहता है। इसी प्रकार अपान भी अहर्निश भीतर बाहर आयाम रत रहता है—

(१) बहिर-आकाश में प्राण के अस्त हो जाने पर जब तक पुनः अपान का उदय नहीं होता है तब तक अपान की इस अवस्था को बहिः पूरक कहा जाता है।

(२) द्वादशान्त प्रदेश से ऊपर उठकर अपान का जो स्थूल रूप में परिवर्तन हो जाता है वह भी अपान की बहिः पूरक अवस्था है ।

(३) बहिः द्वादश अंगुल पर्यन्त प्रदेश में, मिट्टी के घट की आन्तरिक दशा के समान, अपान की जो स्थिति होती है उसको अपान की कुम्भक अवस्था कहते हैं ।

(४) प्राण के उदय होने से पूर्व अपान की जो अन्तर्मुखी स्थिति होती है उसको बाह्य रेचक नाम से सम्बोधित किया जाता है ।

इस प्रकार प्राण एवं अपान की द्विविध पूरक स्थिति से प्राणायाम की उपर्युक्त आठ अवस्थाओं का विकास होता है । इनका ज्ञान साधक को स्वभाव से ही हो जाता है । हृदय से कण्ठ, तालु, ललाट, रन्ध्र आदि द्वादश अङ्गुल पर्यन्त स्थान प्राण की गति के विषय हैं । हृदय कन्द, मुख का संकोच एवं विकास द्वादश अङ्गुल पर्यन्त अपान की गति का विषय है । जिस क्षण में प्राण का अस्त हो जाता है तथा अपान का उदय अभी हुआ नहीं है ऐसी अयत्न सिद्ध बाह्य कुम्भक अवस्था को, तथा जिस क्षण अपान का अस्त हो जाता है तथा प्राण का उदय हुआ नहीं है ऐसी अयत्न सिद्ध अन्तः कुम्भक अवस्था को ही मध्यवर्ती होने के कारण परम पद के नाम से सम्बोधित किया गया है । यही अवस्था प्राणापान का समायोग (सन्धि) है, तथा इस को ही अक्रम, अथवा विहङ्गम, अथवा भैरव योग की चरम अवस्था कहा गया है । इस अवस्था में साधक को सहज ही निर्विकल्प की अनुभूति होती रहती है । इस प्रकार विज्ञान भैरव की क्षेमराजकृत टीका मे निरूपण किया गया है । योग बाशिष्ठ के भुसुण्डोपाख्यान में भी इस विषय का प्रतिपादन उपलब्ध है । कहा है—

" न सा जीव कला काचित् सन्तानद्वय वर्तिनी ।
न विद्यते ॥
व्याप्त्री शिवकला यस्यामधिष्ठात्री

प्राण क्षय पदान्तस्थमपानक्षय कोटिगम् ।
अपान प्राणयोर्मध्यं चिदात्मानमुपास्महे ॥
यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
यच्च सर्वमयं नित्यं तच्चित्तत्वमुपास्महे ॥
अपानोऽस्तं गतो यत्र प्राणो नाभ्युदितः क्षणम् ।
कला कलङ्क रहितं तच्चित्तत्वमुपास्महे ॥
नापानोऽभ्युदितो यत्र प्राणश्चान्तमुपागतः ।
नासाग्र गगनावर्तं तच्चित्तत्वमुपास्महे ॥
यत्र प्राणोऽस्तमायाति यत्रापानोऽस्तमेतिच ।
यत्र द्वावप्यनुत्पन्नो तच्चित्तत्वमुपास्महे" ॥
(यो. वा. निर्बाण प्रकरण भुसुण्डोपाख्यान समाधि वर्णन)

जो पशुवत् अतुच्छ सांसारिक कामनाओं के लोभ में श्मशान में मुर्दों के बीच शराब की बोतल के बल पर भैरव की साधना करते हैं, हम यहां भैरव के उस रूप की विवेचना नहीं करना चाहते क्यों कि वह रूप अवैदिक है, साधक के पतन का कारण है तया परम पुरुषार्थ के स्थान पर तुच्छ फलान्वेषी है । हम केवल श्मशान का अर्थ कर देना चाहते हैं--

"सुषुम्ना शून्य पद्वी ब्रह्मरन्ध्र महापथः ।
श्मशानं शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येक वाचकः" ॥

श्मशान सुषुम्ना नाडी का नाम है अतः प्राण को सुषुम्ना में संयमित करने से ही भैरवभाव की प्राप्ति होती है । इस योग की क्रिया से ब्रह्म के भैरव रूप का साक्षात्कार होता है ।

——:o:——

नाद–साधना

नाद विन्दूपनिषद् में कहा है कि नाद के अनुसन्धान के द्वारा कुम्भक की अयत्न सिद्धि का प्रतिपादन किया गया है। सिद्धासन में स्थित होकर षण्मुखी मुद्रा का अभ्यास करने से योगी दक्षिण कर्ण में आन्तर नाद का श्रवण करता है। अङ्गुष्ठ, तर्जनी एवं मध्यमा अङ्गुलियों से साधक क्रमश: कर्ण, चक्षु एवं नासिका के रन्ध्रों को बन्द करे तथा ओष्ठों को काक की चञ्चु के समान बनाकर जिह्वा को व्यावृत कर तालु से सम्बद्ध कर दे। इस प्रकार अनुष्ठित षण्मुखी मुद्रा से प्राणापान की गति अवरुद्ध हो जाती है, एवं भ्रू मध्य में प्रकाश विन्दु एवं हृत् प्रदेश में नाद का सञ्चार होता है। यह आन्तर नाद दक्षिण कर्ण में सुना जाता है तथा प्रथम जलधि, मेघ अथवा भेरी की स्थूल ध्वनि के रूप में प्रकट होता है। तदनन्तर स्थूल नाद वंशी आदि की सूक्ष्म ध्वनि में परिवर्तित होता जाता है तथा अन्ततो गत्वा चिर अभ्यास से अन्त: नाद बाह्य ध्वनि को आवृत कर लेता है एवं स्वयं तुर्यात्मक निस्पन्द में विलीन हो जाता है। जिस प्रकार मकरन्दपान में आसक्त भ्रमर गन्ध की अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार नाद में आसक्त चित्त विषयों की आकाङ्क्षा नहीं रखता है। जब तक नाद है तभी तक मन की स्थिति है। नाद का अन्त हो जाने पर मन की गति का भी अन्त हो जाता है। स शब्द अक्षर के क्षीण हो जाने पर नि: शब्द परम अक्षर पद का आविर्भाव होता है। नित्य नादानुसन्धान से जब वासना का क्षय हो जाता है तब मन का निरञ्जन में निश्चय रूप से विलय हो जाता है। अभ्यास से कालान्तर में नाद एवं विन्दु उभय का ब्रह्म प्रणव में लय हो जाता है तब योगी जाग्रत् आदि अवस्थाओं से मुक्त होकर स्व स्वरूप में अवस्थित होता है। कतिपय आधुनिक बहुचर्चित तथाकथित अभ्यासियों का मत है कि नाद की अनुभूति दक्षिण अथवा वाम किसी भी कर्ण में सम्भव है। किन्तु हमारे गुरुवर श्री स्वामीजी का मत है कि दक्षिण कर्ण में ही वास्तविक अन्त: नाद की अनुभूति होती है तदनन्तर व्यापक होने के कारण यह सर्वत्र व्याप्त हो जाता है।

नाद-साधना से भी श्रेष्ठ मूल बन्ध, ओड्यान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध का साधन है जिस के कारण कुम्भक अवस्था की अयत्न सिद्धि हो जाती है। वाम पाद की एड़ी से योनि स्थान को पीड़ित कर दक्षिण पाद को हाथ से वाम पाद के ऊपर इस प्रकार स्थापित करे जिससे तलुवा ऊपर की ओर रहे। इस प्रकार अनुष्ठित सिद्धासन अथवा पद्मासन में आसीन साधक द्वारा योनि का बहुशः आकुञ्चन कर अपान को ऊपर की ओर आकृष्ट करने से मूलबन्ध का अनुष्ठान होता है। अपान तथा प्राण के ऐक्य से वृद्ध भी पुनः युवावस्था को प्राप्त करता है। दूसरा ओड्यान बन्ध है। यह उदर का बन्ध है जो मृत्यु रूपी हाथी के लिये सिंह के समान है। अर्थात् इस के अभ्यास से साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। शास्त्र में इस को मृत्यु मातङ्ग-केशरी कहा है। विश्रान्त पक्षी जब उड़ने का प्रयत्न करता है उस काल में जो उसके उदर की स्थिति होती है साधक जब अपने उदर की उस प्रकार की स्थिति का निर्माण करता है उसको ओड्याण बन्ध कहा गया है। तीसरा बन्ध जालन्धर बन्ध है जिस से कण्ठ का संकोचन हो जाता है जिसके कारण सहस्रार से द्रवित अमृत का अग्नि में अर्थात् मूलाधार में क्षरण नहीं होने पाता है तथा वायु की गति रुक जाती है। योगी के लिये तीनों बन्धों का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। गुरु की कृपा से इनका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। योग चूडामणि तथा योगतत्वोपनिषत्, घेरण्ड संहिता, हठ योग प्रदीपिका आदि योग के ग्रन्थों में इनका निरूपण उपलब्ध है। योगिराज ज्ञानेश्वर महाराज ने भी श्रीमद्भगवत गीता के भाष्य में इन बन्धों का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। इनके अभ्यास से प्राणापान का प्रवाह स्तम्भित हो जाता है तथा सादृश्य के बिना ही दृष्टि स्थिर, प्रयत्न के बिना वायु अवरुद्ध एवं आलम्बन के बिना चित्त स्थिर हो जाता है। इसको ही राजयोग की संज्ञा दी गई है। षण्मुखी मुद्रा के अभ्यास में भी तीनों बन्धों का उपयोग होता है।

"दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यं,
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।

चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं,
स ब्रह्मतारान्तर नादरूप" ॥

ऊपर 'भैरव योग' नामक अध्याय में कहा है कि भैरव का दिक् काल आकार के रहित निष्कल रूप ही पर रूप है। अतः देवी ने प्रसाद रूप में इस निर्विकल्प रूप के साक्षात्कार की याचना की और कहा कि "**प्रसादं कुरु मे नाथ निःशेषं छिन्धि संशयं**"। यहां प्रसादं का अर्थ है "**प्रकर्षेणासादनं प्रसादः, भेदापरसणेनाभेदोपपत्त्या स्वात्मैक्यताप्रतिपादन युक्तिः**"। अर्थात् पूर्ण रूप से भेद का अपसरण कर अभेद ज्ञान के द्वारा तादात्म्य रूप से प्रवेश का नाम प्रसाद है, किसी मिष्ठान्न विशेष को यहां प्रसाद नहीं स्वीकार किया है। अतः प्रसाद के रूप में प्राप्त निर्विकल्प समाधि की अनुभूति के लिये विज्ञान भैरव में एक सौ बारह प्रकार की धारणाओं की चर्चा निस्तरङ्ग उपदेश के नाम से की गई है। इन निस्तरङ्ग अनुभूतियों में से किसी एक का अभ्यास करने पर भी साधक स्वयं भैरव रूप हो जाता है। अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कर अजर अमर हो जाता है। इन्द्रजाल अथवा गंधर्व नगर के समान भ्रमात्मक सकल रूप रज्जू में सर्प की भ्रान्ति के समान समाप्त हो जाता है। निष्कल अव्यपदेश्य एवं अकथ्य रूप का तत्त्वतः एवं सत्यतः ज्ञान हो जाता है। गुरु एवं प्रश्नकर्त्री शिष्या के रूप में स्थापित देवी का भैरव में समावेश सम्पन्न हो जाता है। इसप्रकार साक्षात्कार प्राप्त करने के लिये ही धारणाओं का निरूपण किया गया है।

पूर्व में यहां शाम्भव, शाक्त तथा आणव आवेशों की चर्चा कर दी है तथा प्राण पूरक एवं अपान पूरक आठ प्राणायामों का निरूपण भी किया जिसके द्वारा निर्विकल्प परात्मक स्थिति की अनुभूति होती है।

जहां-जहां मन की तुष्टि हो वहां मन को धारण करने पर परानन्द के स्वरूप का प्रवर्तन होता है। यदि कामिनी के मुखकमल के अवलोकन से मन की तुष्टि होती है तब वहां भी मन को धारण करने से परानन्द की प्राप्ति हो सकती है किन्तु यहां काम आदि के क्षोभ के

प्रशम से ही परानन्द की अनुभूति सम्भव है। यदि साधक इस में सफल नहीं है तब उसका पतन हो जाना अनिवार्य है। कहा है-- "**यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदं**"। वस्तु से उत्पन्न क्षोभ को शमन कर लेने पर जहां कहीं भी मन जाता है, बाहर या भीतर, सभी स्थितियों में व्यापक शिवावस्था का ही ध्यान रहता है।

जाग्रत अवस्था की अनुभूति समाप्त होने पर निद्रा आने से पूर्व जो मध्य की स्थिति है वहां मन धारण करने से परा देवी प्रकाशित होती है।

विमल आकाश के निरन्तर बद्ध दृष्टि से देखने का अभ्यास करे तब भी स्वात्म रूप प्रकाशित होता है--

किसी भी स्थूल रूप घट देह आदि को स्तब्ध अर्थात् उन्मेष निमेष रहित दृष्टि से देखने पर शिवता की प्राप्ति होती है--

मुख को इस प्रकार खुला रखे कि जिह्वा मध्य में स्थिर रहे तब ह वर्ण का अनच्क उच्चारण करे तब मन:स्थिति शांत हो जाती है। उच्छ्वास के समय हं तथा नि:श्वास के समय सः का उच्चारण करने से हंसः मन्त्र बनता है। दृष्टि का भ्रूमध्य में स्थिर रखना भी आवश्यक है।

गज, गाड़ी, घोड़ा आदि चञ्चल आसन पर बैठ कर जब शरीर की चञ्चलता के कारण मन:स्थिति शान्त हो जाती है तब भी परम आकाश में चिदानन्द के प्रवाह की प्राप्ति होती है।

कृष्णपक्ष की काली अंधेरी रात्रि में चिर काल तक तिमिर रूप की भावना करने पर भी भैरव रूप में समावेश हो जाता है। इसी प्रकार कृष्णपक्ष की काली रात्रि के अभाव में भी यदि नेत्रों को निमीलित करने पर जो तमो रूप कृष्ण आभा का भान होता है उसका ध्यान करने पर कृष्ण आभा से युक्त भैरव का ही रूप प्रकाशित होता है।

चित्त में न दुःख की अनुभूति करे और न ही सुख की अनुभूति करे। मध्य की भावना रहित स्थिति का ज्ञान कर अभ्यास करे यही भैरवि का स्वरूप है।

मन को निराधार कर के अर्थात् बाह्य एवं अन्तः अवलम्बन से पृथक् करके विकल्पों का चिन्तन न करे तब आत्मा का परमात्म रूप होने पर भैरव अवस्था की अनुभूति होती है ।

अपने शरीर का परिभ्रमण कर अन्त में शीघ्र भूमि पर गिरा देने से वेग शक्ति के विराम होने पर निर्विकल्प पर दशा का प्रादुर्भाव होता है ।

केवल नेत्रों को स्तब्ध कर लेने मात्र से कैवल्य की प्राप्ति होती है । इसी प्रकार सिद्धासन से बद्ध साधक को अपने कानों का तथा अधो द्वार का संकोच कर अनच्क (स्वर रहित व्यञ्जन) वर्णों का ध्यान करने से सनातन ब्रह्म में समावेश होता है ।——

कूप आदि महागर्त्त में खड़े होकर ऊपर आकाश को देखने का अभ्यास करने से निर्विकल्प स्थिति के कारण चित्त का लय हो जाता है ।

परमात्मा नित्य, विभु, निराधार, व्यापक अखिलेश्वर है ऐसा सदा ध्यान करने से साधक कृतकृत्य हो जाता है तथा यह समस्त संसार तत्त्व रहित इन्द्रजाल के समान है यह दृढतापूर्वक ध्यान करने से चित्त प्रशान्त हो जाता है । निर्विकार आत्मा के क्या ज्ञान व क्या क्रिया ? बाह्य भाव ज्ञानाधीन हैं अतः यह जगत् शून्य है ऐसा ध्यान करते रहने से भी अनुत्तर भाव की प्राप्ति होती है ।—— आदि ।

किसी एक धारणा के सतत अभ्यास से भैरवत्व का समावेश निश्चय है । आगे देवी प्रश्न करती हैं कि हे नाथ यदि परावस्था इस प्रकार निर्विकल्प निराधार निष्कल है तब जप्य एवं जप का भेद ही समाप्त हो जाता है तथा ऐसी अवस्था में किसका ध्यान, किसकी पूजा, किसकी तृप्ति, किसका होम, क्या हवन तथा किसका याग ? यहां ध्याता, ध्यान, ध्येय, पूजा, पूज्य, पूजक, होता, हव्य, हवन का भेद समाप्त हो जाता है । यह सब बाह्य प्रक्रिया स्थूल वस्तुओं में ही सम्भव है । पुनः पुनः पर भाव में जो भावना की जाती है वही वास्तविक साधना है । "**अहमेव परो हंसो शिवः परम कारणम्**" अर्थात् मैं ही परम हंस हूं तथा शिव परम

कारण हैं। हंसः शिवः सोऽहं स्वयं नादात्मक जप है। मन्त्र एवं मन्त्री में यदि भेद की भावना शेष रह जाती है तब वह सिद्धि नहीं कही जा सकती। अतएव ध्यान की परिभाषा करते हुए कहा है कि निश्चल, निर्विकार, निराश्रय, निर्विकल्प बुद्धि ही ध्यान है। शरीर, नेत्र, मुख, हस्त आदि अवयवों की कल्पना करना ध्यान नहीं हैं। बाह्य पुष्प आदि पदार्थों से पूजा नहीं होती अपितु निर्विकल्प परं व्योम में बुद्धि को दृढतापूर्वक लय करने को पूजा कहा गया है। चेतना रूपी स्रुच से महाशून्यालय में भूत, अक्ष (इन्द्रियां) विषयों का मन सहित जो हवन कर देना है उसका नाम होम है। जिस द्रव्य से पूजन किया जाता है, तथा जो पूजक है एवं पूज्य पर तत्त्व सब एक ही हैं अतः पारमार्थिक पूजा के अतिरिक्त और कोई पूजन नहीं है। कहा है—

"ध्यानं हि निश्चला बुद्धि; निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीराक्षि मुखहस्तादि कल्पना ॥
महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना स्रुचा ॥
यैरेव पूज्यते द्रव्यैस्तर्प्यते वा परापरः।
यश्चैव पूजकः सर्वः स एवैकः क्व पूजनम् ॥

—:०:—

जप–योग

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है "**यज्ञानां जप यज्ञोस्मि**" अर्थात् समस्त श्रौत एवं स्मार्त यज्ञों में श्रेष्ठ जप नामक यज्ञ है। जप स्वयं ब्रह्म का स्वरूप है। यह हिंसादि दोषों से रहित होने के कारण अत्यन्त शोधक है। अतः आगम शास्त्र में जप यज्ञ का विशेष महत्त्व है। निष्काम बुद्धि से भगवद् प्रीत्यर्थ अनुष्ठित जप सर्व अर्थ सिद्धिप्रदायक होता है। साधक के लिये भुक्ति मुक्ति दोनों करतल-गत हो जाती है। ललिता सहस्र नाम में कहा है:–

"निष्कामः कीर्तयेद्यस्तु नामसाहस्रमुत्तमम्।
ब्रह्मज्ञानमवाप्नोति येन मुच्येत् बन्धनात्॥
धनार्थीधनमाप्नोति यशोर्थी प्राप्नुयाद्यशः।
विद्यार्थी प्राप्नुयाद्विद्यां नाम साहस्र कीर्तनात्॥"

अन्यत्र भी कहा है—

"काम्य कर्म प्रसक्तानां, तावन्मात्रं भवेत् फलम्।
निष्कामं भजतां देवमखिलाभीष्ट सिद्धयः॥"

अर्थात् जो साधक काम्य कर्म में प्रसक्त हैं उनके लिये केवल सीमित अभिलषित फल ही प्राप्त होता है किन्तु निष्काम जपकर्ता के सभी अभीष्ट सिद्ध होते जाते हैं।

व्याकरण की दृष्टि में **'जप व्यक्तायां वाचि'** तथा **'जप मानसे च'** अर्थात् जप वाणी के द्वारा व्यक्त होता है तथा मानसिक भी होता है।

तन्त्र में इस के तीन भेद कहे गये हैं १, वाचिक २, उपांशु ३, मानसिक। १, जिसमें वाणी का स्पष्ट उच्चारण होता है वह वाचिक है २, जब साधक के केवल मुख में मन्त्र का अव्यक्त उच्चारण होता है तथा शब्द मुख के बाहर वाणी द्वारा व्यक्त नहीं होता वह उपांशु कहा जाता है। ३, मानस जप वह है जिसमें साधक के चित्त के अन्तः में ही मन्त्र का रूप विकसित होता है। वाचिक मन्त्र-जप की अपेक्षा उपांशु जप का एक लक्ष गुणा अधिक फल होता है तथा उपांशु जप से एक लक्ष गुणित अधिक फल मानसिक जप से प्राप्त होता है। जैसा कि कहा है:—

"निगदेनोपांशुना वा मानसेनाथवा जपेत्।
निगदः परमेशानि स्पष्टं वाचा निगद्यते ॥
अव्यक्तश्च स्फुरद्वक्त्र उपांशुः परिकीर्तितः।
मानसस्तु वरारोहे चित्तेनान्तर रूपवान् ॥
निगदेन तु यज्जप्तं लक्षमात्रं वरानने।
उपांशु स्मरणेनैव तुल्यं भवति शैलजे ॥
उपांशु लक्षमात्रं तु यज्जप्तं कमलेक्षणे।
मानसस्मरणेनैव तुल्यमेकेन सुन्दरि ॥"

सूक्ष्म विचारकों ने जप को षड्विध निरूपित किया है। वाचिक, मानस, योगिक, योगवाचिक, योगमानसिक, तथा वाङ्मानसिक यौगिक ये छ प्रकार जप के हैं।

१. देवी की भावना कर जब साधक केवल वाणी से मन्त्र का उच्चारण करता है तब उसको वाचिक विधि कहा जाता है। वाचिक जप से केवल वाणी का प्रवर्तन होता है। २. जब साधक सावधान चित्त से देवी के रूप का चिन्तन करता है तथा साथ ही मन्त्र का अनुसन्धान करता है अर्थात् दृढता पूर्वक देवता से तादात्म्य की अनुभूति करता है उसको मानसिक जप कहते हैं। मानसिक जप से साधक को

श्री अर्थात् लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। ३. तीन स्थानों अर्थात् मूल, अनाहत, एवं आज्ञा चक्रों में तीन बीजों (ऐं, क्लीं, सौः) का क्रम से चिन्तन करने का नाम यौगिक जप है। यौगिक जप से साधक को योगसिद्धि होती है। ४. मन का लक्ष्य में संयोजन कर साधक वाणी से मन्त्र का जप करता है वह जप योग-वाचिक कहा जाता है। यह भी योग–सिद्धि कारक है। ५. योग–मानसिक जप वह है जिस में साधक मानसिक लक्ष्य में मन को संयोजित कर मानसिक जप करे। यह मानसिक एवं यौगिक दोनों साधनों से युक्त है अतः यह श्री एवं तादात्म्य उभय का प्रदायक है। ६. छठवीं विधि मन एवं वाक् के संयोग से कही गई है यहां साधक आरोहण क्रम से मन्त्र का मानसिक जप करता है। यह वाङ्मानसिक योग नामक जप कहा जाता है। आरोहण मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त चक्रों में क्रमशः होता है।

कतिपय योगियों का मत है कि यदि ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत क्रम से किसी भी मन्त्र अथवा विद्या का जप किया जावे वह सभी समस्त अर्थों को प्रदान करता है। लिखा है :—

"येन केन जपेनैव ह्रस्व दीर्घ प्लुत क्रमात्।
जप्ता विद्याश्च मन्त्राश्च सर्वे सर्वार्थदायिनः ॥"

पूरक की एक मात्रा, रेचक की दो मात्रायें तथा कुम्भक का प्लुतात्मक विस्तार है।

मन्त्र की सिद्धि के हेतु योग नैसर्गिक रूप में उपयोगी है क्योंकि चित्त की एकाग्रता सम्पन्न होने पर ही मन्त्रार्थ का साक्षात्कार होता है अर्थात् मन्त्रार्थ की सिद्धि का कारण चित्त वृत्ति का निरोध है। अतएव अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष आदि नियमों तथा आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि योग अङ्गों का आश्रय लेकर साधक को जप का अनुष्ठान करना आवश्यक है। गुरुवर

श्रीस्वामी जी महाराज ने इस प्रकार बगलामुखी रहस्यं के अन्तर्गत योग-विधि-वर्णनम् नामक अध्याय में प्रतिपादित किया है।

जप की ये विधियां प्रारम्भिक साधकों के लिये हैं ही तथा कोई भी विधि थोड़ी दूर तक ही साधक का साथ देती है अन्ततोगत्त्वा अपरिच्छिन्न, अनन्त, निरुपाधिक भैरवाकार संवित में अभेद प्रतिष्ठा का नाम पूजा है। निर्विकल्प परम् व्योम में श्रद्धा पूर्वक लय हो जाना ही पूजा है। यहां ध्यान-धारणा आदि का आयास भी समाप्त हो जाता है केवल ज्ञान दीप प्रज्वलित रहता है— अतः भक्त कहता है कि **"ज्ञान दीपेन देव त्वां कदा नु स्यामुपस्थितः"**। यहां सर्वांग प्रणाम का अर्थ भक्त और देवता का एकीभावनाद् समरसीकरण हो जाता है। कहा है—

न पादहनं भक्तिर्व्यापिनः परमेशितु।
भक्तिर्भाव स्वभावानां तदेकी भाव भावनम् ॥

पञ्चदशी जप की शाक्तप्रक्रिया

यहां शाक्त मतानुसार पञ्चदशी मन्त्र के जप की प्रक्रिया का उल्लेख भी आवश्यक प्रतीत हो रहा है। कहा है—

शून्यषट्कं सुरेशानि अवस्था पञ्चकं पुनः।
विषुवत्सप्तरूपं च भावयन्मनसा जपेत् ॥

यहां १) जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य, तुर्यातीत, नामक पञ्च अवस्थाओं, २) अनाहत, विन्दु, रोधिनी, नादान्त, व्यापिका, उन्मना नामक छै प्रकार के शून्य, तथा ३) प्राण, मन्त्र, नाड़ी, प्रशान्त, शक्ति, तत्त्व नामक सात विषुवों को जो जानता है तथा इनकी भावना करके मन्त्र का मानसिक चिन्तन करता है उसको ही जप की संज्ञा दी गई है। जीव एवं ब्रह्म

के समरसीकरण अर्थात् श्री चक्रपूजन के अन्तिमलक्ष्य का यही साधन है जिसको परापूजा के नाम से संकेत किया है। योगिनी हृदय के पूजा संकेत एवं वरिवस्या रहस्य के प्रथम अंश के अन्त में इसके रहस्य का उद्घाटन किया गया है। अवस्था, शून्य, एवं विषुव के ज्ञान तथा अभ्यास के विना जप की सिद्धि नहीं होती– विशेषतया पञ्चदशी मन्त्र की सिद्धि। हम यहां संक्षेप में इनका विवरण प्रस्तुत करते हैं विशेष उपर्युक्त ग्रन्थों में अवलोकन करना चाहिये––

जप की इस विशेष प्रक्रिया को समझने से पूर्व शरीर में द्वादश स्थानों को समझ लेना आवश्यक है। इन स्थानों में वर्णों की स्थिति कही जाती है। प्रलयाग्नि के समान प्रज्वलित प्रथम वाग्भव कूट मूलाधार से अनाहत पर्यन्त विस्तृत है। इस में मूल, स्वाधिष्ठान, मणिपूर तीन स्थान हैं। दूसरा कामराज कूट अनाहत से प्रारम्भ होता है। इस में –अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा नामक तीन चक्र हैं। तीसरा शक्ति कूट आज्ञाचक्र से प्रारम्भ होता है इसमें बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना, उन्मना नामक नव चक्र हैं जिनको समष्टि रूप में नाद नाम से संबोधित किया जाता है।

जिस प्रकार बट-वीज के अन्तर्गत वट-वृक्ष का सूक्ष्म रूप अन्तर्निहित रहता है उसी प्रकार इन चक्रों के मध्य में शब्द सृष्टि कारिणी त्रिपुर सुन्दरी नाम से विख्यात पराशक्ति का सूक्ष्म रूप में अवस्थान है। यह शक्ति शब्द की अनविच्छिन्न, अनन्त, अपरिमित सामर्थ्य को परमित करती है, ऊर्ध्व गति प्रदान करती है तथा आकार बनाती है अतएव माति, तरति, कायतीति व्युत्पत्ति के अनुसार मातृका नाम से संबोधित की जाती है। निर्विकार अवस्था में भी मातृका शक्ति के अन्तः में प्रलय में संहृत विश्व को स्रजन करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। तब वह स्रष्टव्य पदार्थ का अनालोचन करती है जैसा कि श्रुति कहती है "**तदैक्षत बहुस्यां**" अर्थात् उसने एक से अनेक रूप हो जाने की इच्छा की। इस प्रकार के ईक्षण से ही वह प्रवृत्ति को निमित्त बनाकर

पश्यन्ती पद को ग्रहण करती है। वही पश्यन्ती नामक मातृका शक्ति अन्तःकरण एवं बाह्य करणों से उत्तीर्ण होने के कारण उत्तीर्णा नाम से संबोधित है। उसका वामा आदि आठ शक्तियों के रूप में अन्यत्र प्रपञ्च किया गया है। अतः वही शक्ति व्यष्टि एवं समष्टि वेष से नवधा विभक्त है। शक्ति के इस स्वरूप से ही अविकृत शून्य आदि नव नाद की उत्पत्ति हुई है जिनका विन्दु, अर्ध चन्द्र आदि नामों से ऊपर उल्लेख है। नाद, ध्वनि आदि पदों द्वारा वाच्य मातृका का समष्टि आत्मक स्वरूप न तो परा के समान अत्यन्त सूक्ष्म है और न ही वैखरी के समान अत्यन्त स्थूल है अतः स्वरूप में मध्यम होने के कारण शक्ति के इस रूप को मध्यमा कहा गया है। अविकृत, शून्य, स्पर्श, नाद, ध्वनि, विन्दु, शक्ति, बीज, अक्षर नामक नव नादों के रूप में यह मातृका शक्ति मूलाधार आदि षट् चक्रों एवं नाद, आदि नव स्थानों तथा अन्त में ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त स्थित है। उपर्युक्त नव नादों से अ, क, च, ट, त, प, य, श, ल, नामक नव वर्गों की वैखरी नामक मातृका के स्वरूप से उत्पत्ति होती है। 'वै निश्चयेन स्पष्टतरत्वात् खं कर्णविवर नभोरूप श्रोत्रेन्द्रियं राति गच्छति, तज्जन्य ज्ञान विषयो भवति इति' अर्थात यह अनाहत मध्यमा ध्वनि जब जिह्वा तालु आदि स्थानों के आहत होने पर कर्णविवरवर्ती नभ तक पहुंचती है तव इस के द्वारा उत्पन्न निश्चयात्मक ज्ञान का विषय होती है अतः इसको वैखरी कहा गया है। इस प्रकार ककार आदि वर्ण-धर्मों की एवं षड्ज आदि ध्वनि-धर्मों की अनुभूति होने से परिणाम में परिणामी के अनुस्यूत होने का दर्शन होता है। अर्थात् जिस प्रकार घट को देखकर उसके कारण रूप मृत्तिका का ज्ञान होता है उसी प्रकार वर्ण एवं ध्वनि के श्रवण की अनुभूति होने पर उसके अन्तर्गत व्याप्त, उसके कारण रूप नाद का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह कि वर्णों के विभिन्न रूपों में नाद ही अनुस्यूत है। जिस प्रकार मणि आदि की माला गुण (डोरे) से गुम्फित रहती है तथा गुण मणि के अन्तः में भी प्रविष्ट रहता है तथा अन्य मणियों के मध्य में भी स्थित रहता है उसी प्रकार

नाद भी वर्णमाला में वर्णों के शरीर के अन्तर्गत एवं विभिन्न वर्णों के मध्य में स्थित रहता है। अर्थात् नाद से ही वर्णों के शरीर की उत्पति है एवं नाद से ही यह परस्पर अनुविद्ध हैं। इस प्रकार मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त नाद का ही सञ्चार होता रहता है वही वर्ण एवं ध्वनि के रूप में प्रकट होता है, अतः वर्णात्मक मन्त्र के जप में भी वस्तुतः नाद का ही अनुसन्धान होता है। मूलाधार से प्रारम्भ होकर नाद का ब्रह्मरन्ध्र में अन्त हो जाता है। मन वायु रूप है किन्तु वायु का प्रचलन केवल समना पर्यन्त है अतः जहां तक मन का अस्तित्व है वह स्थान समना कहा गया है इस से ऊपर मन की गति नहीं है अतः शब्दातीत ब्रह्म के स्थान को उन्मना नाम से सम्बोधित किया है। वहां भावातीत निःशब्द निराकार, निर्विकार ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति होती है।

ऊपर मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जिन कूटों की चर्चा की गई है उन की संख्या व्यष्टि तथा समष्टि भेद से चार है। तीन वाग्भव आदि कूटों का निरूपण किया जा चुका है चौथा कूट तीनों कूटों की समष्टि रूप है। --इन चार कूटों के सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्य नामक चार बीज हैं। तिरोधान एवं अनुग्रह की समष्टि का नाम अनाख्या है। पुट, धाम, तत्त्व, पीठ, अन्वय, लिङ्गक, मातृका समष्टि रूप सृष्टि आदि चार बीजों के रूपान्तर हैं। पुट चार हैं। --ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, एवं सामरस्य। धामों की संख्या सात है १- चक्र २- नाथ, ३- दशा ४- शक्तित्रय ५- आत्मा। चक्र की संख्या चार है- अग्निचक्र, सूर्यचक्र, सोमचक्र, ब्रह्मचक्र। मित्रेश नाथ, षष्ठीश नाथ, उड्डीश नाथ, चर्यानन्द नाथ नामक चार नाथ कहे हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय चार दशायें हैं। शक्तियां भी चार हैं:— १- वामा, २- ज्येष्ठा, ३- रौद्री, ४- शान्ता। इच्छा, ज्ञान, क्रिया, अम्बिका तथा कामेश्वरी, वज्रेश्वरी, भगमालिनी, त्रिपुरसुन्दरी नामक चार-चार शक्तियों के रूपान्तर हैं।

आत्मा:— आतमा, अन्तरातमा, परमातमा, ज्ञानातमा ।

तत्त्व:-- आतम तत्त्व, विद्या तत्त्व, शिव तत्त्व, सर्व तत्त्व ।

पीठ-- कामरूप, पूर्णगिरि, जालंधर, ओडयाण ।

अन्वय:-- १- प्राग्, २- दक्षिण, ३- पश्चिम, ४- उत्तर । यह अन्वय समय पद तथा आम्नाय नाम से भी प्रसिद्ध है ।

लिङ्ग:— १- स्वयंभू, २- वाण, ३- इतर, ४- पर ।

मातृका:— १- परा, २- पश्यन्ती, ३- मध्यमा, ४- वैखरी ।

मनुष्य शरीर में ही स्थित कामराज आदि चार कूटों में उपर्युक्त पुट धाम, आदि की स्थिति सुनिश्चित है । इनका उचित ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही पञ्चदशी मन्त्र का जप करना चाहिये ।

वाग्भव, कामराज, एवं शक्ति तीन कूटों में विभाजित पञ्चदशाक्षरी मन्त्र का स्वरूप क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं है । सृष्टि, स्थिति, संहार प्रत्येक क्रिया के तीन-तीन भेद हैं । सृष्टि कर्म में सृष्टि-सृष्टि, सृष्टि-स्थिति, सृष्टि-संहार तीन भेद हैं । इसी प्रकार स्थिति कर्म में स्थिति-सृष्टि, स्थिति-स्थिति, स्थिति-संहृति तथा संहृति कर्म में संहृतिसृष्टि, संहृति-स्थिति, संहृति-भेद यह तीन क्रियाएँ हैं । अतएव प्रत्येक त्रिक में ब्रह्मा विष्णु रूद्र देवता भारती पृथिवी रुद्राणी सहित अधिपति हैं । इस प्रकार प्रथम कूट में प्रयुक्त क वर्ण ब्रह्म का स्वरूप है एवं ए भारती का स्वरूप है । तुर्य नामक ई विष्णु का रूप है तथा ल पृथ्वी का रूपान्तर है । हकार रुद्र स्वरूप एवं रेफ रुद्राणी का रूप है तथा ईं शान्ता एवं अम्बिका का मिश्ररूप है । द्वितीय कूट में मध्यम हकार को छोड़ शेष वर्णों का अर्थ इसी प्रकार है । तृतीय कूट सकार से प्रारम्भ होता है । सकार शक्ति का बाचक है अतः शक्ति नामक इस तृतीय कूट को भारती शक्ति के अभिव्यञ्जक सकार वर्ण से प्रारम्भ किया गया है । क्योंकि शक्ति कूट में शक्ति का प्राधान्य है । द्वितीय

कूट का द्वितीय हकार ब्रह्मस्वरूप है अतः उसका यहां तृतीय कूट में परित्याग कर दिया गया है।

प्रथम कूट में प्रयुक्त हृल्लेखा के अन्तर्गत जो कामकला है उस के भी अन्तर्गत सपरार्धकला है जिसको वह्नि कुण्डलिनी नाम से सम्बोधित किया जाता है। (सपरार्ध कला का बोध केवल गुरु मुख से श्रवण करने पर हो सकता है।) प्रथम कूट में स्थित सपरार्धकला रूप कुण्डलिनी ही द्वितीय कूट में सूर्य कुण्डलिनी तथा तृतीय कूट में सोम कुण्डलिनी नाम से व्यवहृत होती है। विन्दु आदि समष्टि रूप नाद दीपशिखाग्रवर्ती कज्जल की रेखा के समान इस सपरार्ध कला से ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार अनाहत से आरम्भ होकर उत्थित होने वाला नाद त्रैलोक्य मोहन, सर्वाशापूरक, एवं सर्व संक्षोभण तीन चक्रों के त्रिविध सृष्टि का रूपान्तर है। भ्रूमध्य से आरम्भ कर उत्थित नाद सर्व सौभाग्य दायक, सर्वार्थ साधक, सर्व रक्षाकर चक्रत्रय के अन्तर्गत स्थितबीज के त्रिविध स्वरूप का रूपान्तर है। तथा विन्दु स्थान से आरम्भ कर उत्थितनाद सर्व रोगहर, सर्व सिद्धि प्रद, सर्वानन्दमय चक्रत्रय के अन्तर्गत संहृति के तीन रूपों का अपर रूप है। ह्रीं के उच्चारण में इस प्रकार की भावना करनी आवश्यक है। उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् अब पञ्चदशी मन्त्र के जप की सिद्धि के हेतु अवस्था पञ्चक, शून्य षट्क, एवं सप्त विषुव का विचार करते हैं।

पञ्च अवस्था:— मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त स्थित प्राण की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य, तुर्यातीत नामक पांच अवस्थाएँ प्रतिपादित हैं। जाग्रत् अवस्था वह है जिसमें कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों का अपने विषयों से व्यवहार होता है। इन्द्रियों के इस व्यवहार का कारण सूक्ष्म अरूप प्रकाश है। पञ्चदशी मन्त्र के तृतीय कूट के रेफ में इस की विभावना करनी चाहिये। इसके अभ्यास से साधक महा जाग्रत में प्रवेश करता है जहां इन्द्रियां बाह्य प्रकाश के विना भी सदा जाग्रत् रहती हैं।

स्वप्न

मन, बुद्धि, अहङ्कार चित् नामक अन्तःकरण के व्यवहार को स्वप्न कहा गया है। अन्तःकरण के व्यवहार का उत्पादक प्रकाश का ज्ञान तृतीय कूट की हृल्लेखा में स्थित काम कला से होता है तथापि इस की विभावना गले में स्थित लकार के स्थान में होती है।

सुषुप्ति

तृतीय कूट के विन्दु स्थान में अन्तःकरण के लय की भावना का नाम सुषुप्ति है। यहां जीव भी अर्धचेतन अवस्था में हो जाता है।

तुर्य अवस्था

चिद् अभिव्यञ्जक नाद के संवेदन का नाम तुर्य अवस्था है। तुर्य अवस्था अर्धचन्द्र, रोधिनी एवं नाद स्थानों में व्याप्त होती है।

तुर्यातीत

आनन्द के घनत्व की जहां अनुभूति होती है वह तुर्यातीत अवस्था है। यहां मन और वाणी की गति नहीं है तथा यह अनुभूति नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना तथा उन्मना स्थानों में साधक को उत्पन्न होती है।

अन्तः में स्थित नाद रूप देवता की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य तथा तुर्यातीत पांच अवस्थायें है, पञ्चदशी मन्त्र पांचों अवस्थाओं का प्रकाशक है अतः मन्त्र एवं अवस्थाओं का ज्ञान सिद्धि के लिये आवश्यक है। जिस प्रकार देवता के स्वरूप का पांच जाग्रत् आदि अवस्थाओं में विभाजन है उसी प्रकार अ से क्ष पर्यन्त वर्णमाला भी स्वर, व्यञ्जन, अन्तःस्थ, ऊष्माण एवं कूट नामक भागों में विभाजित है। प्राण की

जाग्रत आदि पांच अवस्थाओं एवं वर्ण माला के पांच स्वर आदि विभागों में यथा-सादृश्य सम्बन्ध है अतः अवस्थाओं और वर्णमाला में अभेद सम्बन्ध स्थापित हैं। अतएव अ से क्ष पर्यन्त अक्ष माला के जप से भी देवता से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित होकर सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

शून्य षट्क

शक्ति कूट के रेफ स्थान, विन्दु, रोधिनी, नादान्त, व्यापिका नामक पांच स्थानों में पांच शून्य कहे गये हैं छठवां शून्य अरूप उन्मनी स्थान में हैं। इस को महा शून्य भी कहते हैं। इन स्थानों में यथाक्रम प्राण के क्षीण होने की विभावना करने से सिद्धि प्राप्त होती हैं। (पृष्ठ ११६ भी देखिये)

विषुव

अब सात विषुवों की परिभाषा करते हैं।

१) **प्राण विषुव**--आत्मा, प्राण एवं मन के संयोग को प्राण विषुव कहा है।

२) **मन्त्र विषुव**--वाग्भव नामक प्राथमिक कूट के नाद के साथ सृष्टि आदि चारों बीजों का ऐक्य तथा आधार से उत्थित नाद में आत्मा के ऐक्य को मन्त्र विषुव कहा है। यहां आधार से ब्रह्म-रन्ध्र पर्यन्त नादात्मत्व का विचिन्तन ही मन्त्र-विषुव है।

३) **नाडी विषुव**--मूलाधार से उद्भूत नाद के उच्चार से ब्रह्मरन्ध्र के अन्त तक सुषुम्ना पथ से षट्चक्रों की द्वादश ग्रंथियों के भेदन करते हुए नाड़ी, नाद तथा मन्त्र के वर्णों की पंक्ति के संयोग को नाडी-विषुव कहा गया है।

४) **प्रशान्त विषुव**--मूलाधार से उत्थित नाद का तृतीय कूटस्थ रेफ पर्यन्त सप्त स्थानों में नाद की सूक्ष्मतर दशा हो जाती है उस सूक्ष्मतर नाद का जब शक्ति में लय हो जाता है उस को प्रशान्त विषुव कहा है।

५) **शक्ति विषुव**--उपर्युक्त प्रकार से शक्ति पर्यन्त प्राप्त सूक्ष्मतर नाद की समना के अन्तर्गत लय की भावना को शक्ति विषुव कहा है।

६) **काल विषुव**--समना गत नाद पुनः सूक्ष्मतम रूप में उज्जीवित होकर जब उन्मना में विलय हो जाता है तब इसको काल विषुव की संज्ञा दी जाती है।

७) **तत्त्व विषुव**--षट्चक्रों का नाम कुल है तथा सहस्रार को अकुल कहते हैं। एक ऊपर शिर स्थान में तथा एक अधः मूल के अन्त में स्थित है इस प्रकार सहस्रार दो हैं। मूलाधार में स्थित सहस्रार पद से ही पञ्चदशी विद्या के अक्षरों का प्रारम्भ होता है जो शेष सभी अक्षरों के उच्चारण में नाद अन्य कुल पद्मों में होता हुआ शिरस्थित सहस्रार में समाप्त होता है। पञ्चदशी मन्त्र के समस्त वर्णों का जप तीन निमेष तथा तीन सौ त्रुटि काल में सम्पूर्ण होना चाहिये। विद्या के समस्त अवयव स्थानों से संलग्नता पूर्वक नाद के उच्चारण के फलस्वरूप अभेदात्मक तत्त्व का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार जप को तत्त्व विषुव नाम से सम्बोधित किया गया है। अतएव लिखा है कि--

"एवमवस्था शून्य विषुवन्ति चक्राणि पञ्च षट् सप्त।
नव च मनोरर्थांश्च स्मरतोऽर्णोच्चारणं तु जपः॥"

अर्थात्--इस प्रकार अवस्था, शून्य एवं विषुवों से युक्त चक्रों में मनु अर्थात् वर्णों के अर्थ का स्मरण करते हुए, जो उच्चार होता है उसको जप कहते हैं।



अजपा-योग

ईशावास्य उपनिषद् के योग परक प्रकाश भाष्य में स्वामी जी ने कहा है—

"प्राणापान समायोगात् शब्द तत्त्व समाश्रयात्।
विज्ञान तत्त्व सापेक्षात् ब्रह्माद्वैतं प्रकाशते ॥"

अर्थात्—प्राण एवं अपान के विच्छेद से, शब्द तत्त्व के आश्रय से एवं विज्ञान की अनुभूति से अद्वैत ब्रह्म प्रकाशित होता है। अब तक प्राण, विज्ञान एवं शब्द तत्वों के साधनों की अनेक प्रकार से चर्चा की गई। इन साधनों को चार भागों में विभाजित किया जाता है— १) मन्त्र योग २) हठयोग ३) लय योग ४) राजयोग।

मन्त्र योग

मन्त्र शास्त्र में, अनेक सिद्धियों के प्रदाता, विभिन्न देवताओं की चर्चा है तथा इन को सिद्ध करने के लिये असंख्य मन्त्रों का विधान है। साथ में सिद्धि प्राप्त करने की विधियां भी प्रतिपादित हैं। किन्तु साधक का चरम लक्ष्य योग द्वारा आत्म-दर्शन प्राप्त करना है। कहा है :—

"इज्याचार दयाहिंसा दान स्वाध्याय कर्मणाम्।
अयं स परमो धर्मो यद्योगेन आत्म दर्शनम् ॥"

मन्त्र योग निश्चय रूप से आत्म दर्शन में उपयोगी है। ईशावास्य का मन्त्र है—

"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।"

जो यह आदित्य में पुरुष अवस्थित है उसी का इस शरीर के अन्तर्गत प्राणतत्त्व में अहं रूप से साक्षात्कार होता है। अतएव सोऽहं अर्थात् इस जीव के रूप में मैं वह ब्रह्म ही हूं ऐसी भावना करनी चाहिये। यह जीव अविश्रान्त रूप में श्वास-प्रश्वास के द्वारा हंस मन्त्र का जप करता है। शास्त्र प्रतिपादित कर रहा है :—

"हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते॥"

अर्थात्—हकार के उच्चारण से प्राण बाहर जाता है तथा सकार के उच्चारण से पुनः अन्त में प्रवेश करता है। इस प्रकार इस हंस मन्त्र के द्वारा प्रत्येक श्वास प्रश्वास के बहिरन्तर आवागमन में जीव निरन्तर जप करता है कि मैं शिव स्वरूप हूं। गुरु वाक्य के प्रभाव से यह हंस मन्त्र सुषुम्ना के अन्तर्गत—'सोऽहं सोऽहं' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। हंसः मन्त्र अहं सः महावाक्य का संक्षिप्त रूप है।

हठ योग समस्त वेद्यवर्ग का पोषक होने से सोम का वाचक है। अर्थात् अपान रूप है। हंस मंत्र का हकार सूर्य का वाचक है तथा सकार को स्वर कहते हैं। अतएव हंस पद का अर्थ है सूर्य एवं चन्द्र नाड़ी का ऐक्य। इस को ही हठ योग का नाम दिया है। 'ह' चन्द्र है तथा ठकार सूर्य है। इस प्रकार सूर्यचन्द्र के ऐक्य से सम्पन्न हठ योग के द्वारा समस्त दोषों से उत्पन्न जड़ता का नाश हो जाता है तथा सूर्य एवं चन्द्र नाड़ियों में प्राण के प्रवाह का ऐक्य हो जाने पर चित्त का विलय हो जाता है जो लय योग नाम से प्रसिद्ध है जिसके सम्पादन से परमानन्द पद की प्राप्ति होती है। अजपा के अन्तर्गत हंस मन्त्र, हठ, लय योगों का क्रमशः सम्पादन होता रहता है।

चतुर्थ योग राज योग है जो शिव-शक्ति के आश्रित है। यह प्राण एवं अपान के समायोग अर्थात् उच्छेद हो जाने पर सम्पन्न होता है।

प्राण की वहिः वृत्ति का नाम प्राण है तथा अन्तः वृत्ति का नाम अपान हैं ।

जब प्राण एवं अपान अस्त हो जाता है तब सुषुम्ना के उदय होने पर राजयोग का सन्निवेश होता है। अहं मन्त्र का अकार प्रकाश रूप है तथा हकार विमर्श रूप। अतः अकार एवं हकार के योग का अर्थ शिवशक्ति का ऐक्य होता है । शिव-शक्ति का संश्लिष्ट स्वरूप ही परब्रह्मात्मक है अतः अहंसः मन्त्र का अनुसन्धान करने से परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। तथा अनेक प्रकार की सांसारिक सिद्धियां प्राप्त होती हैं। अहं मन्त्र का जप जीव बिना उच्चारण किये ही निरन्तर करता रहता है। जपात्मक अन्य किसी सामग्री या साधन के बिना यह सम्पन्न होता रहता है अतएव इस को अजपा नाम से कहा गया है ।

तन्त्रोक्त अजपा-विधि

जीव दिन रात्रि में २१६०० बार श्वास लेता है, जो मूलाधार आदि छ चक्रों में होकर प्रवाहित होता है। अतएव चक्रों में कल्पित देवताओं गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, जीव, गुरु का आरोह एवं अवरोह क्रम से यथा समय चिन्तन-ध्यान कर जप की कल्पना करनी चाहिये ।

प्रातः उठ कर साधक को अजपा का संकल्प ग्रहण करना चाहिये। उठने पर गुरु के चार श्लोकों को प्रथम उच्चारण करें--

"गुरुः ब्रह्मा गुरुः विष्णु गुरुः देवः महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ।।
अखण्ड मण्डलाकारं ब्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।।
नमोस्तु गुरवे तस्मै स्वेष्ट देव स्वरूपिणे ।
यस्य वाक् सकलं हन्ति विषं संसार संज्ञितम् ।।

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया ।
चक्षुः उन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः " ॥

इसके पश्चात् दक्षिणा मूर्ति के सिद्ध मन्त्र की एक माला जप करे । मन्त्र—

"ओं नमो भगवते दक्षिणामूर्तये मह्यम् मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा" ।।

इसके पश्चात् एक माला इष्ट मन्त्र की करके प्रत्येक श्वास-प्रश्वास को जप का रूप कल्पित करने के लिये संकल्प करे—

संकल्प

"ओं शिव शिव इति महा शिवस्य आज्ञा प्रवर्तमानेन ब्राह्मणोह्नि द्वितीय परार्धे श्री श्वेत वाराहे कल्पे वैवस्वत मन्वन्तरे अष्टाविंशति कलि युगे कलेश्च प्रथमे चरणे जम्बू दीपे भरत खण्डे आर्यावर्तान्तरगत ब्रह्मावर्तैक देशे – – – – देशे – – – – नगरे – – – स्थाने – – – (नाम) संवत्सरे विक्रम संवत् – – – – मासे – – – – पक्षे – – – तिथौ शाम्भव गोत्रोत्पन्नः (नाम) शर्मा अहं अद्येह पूर्वे द्युः नासापुट निःसृतोच्छ्वास निश्वासात्मकं षट्शताधिकैक विंशतिसहस्र संख्याका अजपा गायत्री जपं मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत आविशुद्धि आज्ञा चक्र ब्रह्मरन्ध्र स्थितेभ्यो गणपति, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, जीव, गुरु परमात्मेभ्यो, शुद्ध सरस्वती, लक्ष्मी, गौरी, प्राणशक्तिः, ज्ञान शक्तिः चित् शक्ति समेतेभ्यो; यथासंख्यं षट्शतं षट्सहस्रं षट्सहस्रं षट्सहस्रं, सहस्रमेकं सहस्रमेकं सहस्रमेकं प्रत्येकं निवेदयामि इति निवेद्य अद्य प्रातः-कालाद् आरभ्य द्वितीय काल पर्यन्तं नासापुट निःसृत उच्छ्वास निःश्वासात्मकं षट्शताधिकैकं विंशति सहस्र- संख्याकं अजपा गयत्री जपं अहोरात्रेण अहं करिष्ये ।"

इस प्रकार संकल्प पढने के पश्चात् ह्सां, ह्सीं, ह्सूं, ह्सैं, ह्सौः, ह्सः मन्त्र के द्वारा करन्यास एवं हृदयन्यास करे। तत्पश्चात् निम्न-लिखित ध्यान करे—

"अग्नी सोम गुरु द्वयं प्रणवकं विन्दु त्रिनेत्रोज्वलं,
भास्वद्रूप मुखं शिवांघ्रि युगलं पार्श्वस्थ सूर्यानिलम्।
उद्यद्भास्कर कोटि कोटि सदृशं हंसं जगद् व्यापिनम्,
शब्दं ब्रह्ममयं हृदम्बुज परे नीडे सदा संस्मरेत्॥"

ध्यान के पश्चात् '**ओं ह्रीं हंसः सोऽहं स्वाहा**' अष्टाक्षर आत्म मन्त्र का एक माला जप करके हंस गायत्री का जप करे। हंस गायत्री—
"**हंस हंसाय विद्महे सोहं हंसाय धीमहि तन्नो हंसः प्रचोदयात्**"। इस प्रकार प्रातः अनुष्ठान कर लेने से सम्पूर्ण श्वास प्रश्वास प्रक्रिया जप के रूप में परिणत हो जाती है। इस का दूसरा नाम परोपासना है। अजपा साधना से ही जीव के बन्धन का क्षय होता है। कहा है:—

"विना जपेन देवेशि जपो भवति मन्त्रिणः।
अजपेय ततः प्रोक्ता भवपाश निकृन्तनी॥"

पूर्णाहं–विमर्श

प्रस्तुत ग्रन्थ में भावना से परे निर्विकल्प बोध रूप पर भैरव का प्रतिपादन किया गया है। हंस मन्त्र वर्णात्मक है जिसको जीव सदैव जपता है। अतः प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हंसः मन्त्र मात्र के विमर्श से पूर्णाहं भावनात्मक विमर्श की अनुभूति कैसे सम्भव है? इसका उत्तर महेश्वरानन्द पाद ने निम्न श्लोक में दिया है:—

"यदि निज हृदयोल्लासं निर्णेत्तुं नित्य निष्कलमिच्छा,
मध्य त्रुटिः त्रुटितव्या अस्तङ्गतयोः सोम सूर्ययोः॥"

अर्थात् सोम और सूर्य के अस्त हो जाने पर अर्थात् हकार रूप अपान और सकार रूप सूर्य अर्थात् प्राण के अस्त हो जाने पर दोनों के मध्यवर्ती काल की जो अनुभूति होती है उस का उद्धार करने से "अहं सः" विमर्श का आविर्भाव होता है। अहं सः अथवा सोऽहं की अनुभूति हंस मन्त्र से श्लिष्ट है, इस का ही विमर्श करना चाहिये, स्वात्मा के प्रत्यभिज्ञान का यही उपाय है। अजपा के अभ्यासी साधक को सूर्य एवं चन्द्र स्वर के आवागमन को युगपत् एक साथ अस्त कर अपने शिवत्व रूप का साक्षात्कार करना चाहिये। यह प्रकिया अजपा साधन का मुख्य अङ्ग है। चन्द्र एवं सूर्य नाडियों का प्रवाह केवली कुम्भक से सम्भव है तथा इस में मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध एवं जालंधर बन्ध सहयोगी हैं। गुरु कृपा से इन उपायों की प्राप्ति करनी चाहिये।

अन्य मत

हंस पद के स्फुट उच्चरित हकार एवं सकार के अन्तः में परा देवी गर्भित हैं। अन्तः प्रवेश दशा में हकार के मस्तक के ऊपर अं रूप अनुस्वार का संस्थान है। यह बिन्दु रूप अनुस्वार ही परा देवी का स्वरूप है इसका ही पर भैरव नाम से भी उल्लेख है। इस बिन्दु का अकार के आश्रय के बिना उच्चारण असम्भव है। इसी प्रकार प्राण के बाहर निःसरण दशा में सः लक्षण से लक्षित विसर्गात्मक (:) का उच्चारण अ कार के आश्रय के बिना सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह कि बिन्दु द्वय का उच्चारण अ कार के आश्रय के बिना असम्भव है अतः देवी के पर को अजपा कहा है। संवित् क्रम में भी अकार समस्त वर्णों के स्फुरण का कारण है संवित् स्वयं प्रकाश है। अकार की स्थिति संवित् के अन्तर में है अतएव अकार भी स्वयं प्रकाश है। अकार से ह एवं स वर्णों की उत्पत्ति है अतएव हंस मन्त्र के जप से परम प्रकाश की अनुभूति होती है। 'ह' एवं 'स' द्वारा सम्बोधित श्वास एवं निःश्वास को यम के दो कुत्तों की उपमा दी गई है। कहा है--

" श्वानौ द्वौ श्यावशवलौ वैवस्वत् कुलोद्भवौ ।
ताभ्यां पिण्डं प्रदास्यामि स्यातां तावहिंसकौ ॥ "

अर्थात श्याव और शवल वर्ण के दिन और रात्रि अर्थात् प्रकाश और अंधकार दो श्वान हैं। इस पञ्चभूतात्मक शरीर की बलि उनके लिये प्रदान करना है। यह प्राणापान रूपी श्वान हमारे लिये हिंसक न हों अतः इन की गति का परिवर्तन कर विच्छेद कर देने से इनका हिंसक प्रभाव समाप्त हो जाता है। अतः योग एवं ध्यान आदि से प्राणापान का क्षरण होने पर पशु-वासना का क्षय हो जाता है तथा ज्ञान सद्भाव का उदय होता है। यह स्थिति अजपा के अभ्यास से सम्भव हैं। 'अ' स्वर जैसा ऊपर कहा है बिन्दु विसर्ग रूप देवी के अभिव्यञ्जन का साधन है। इस को अविभागा पश्यन्ती भी कहा है अतएव कहा है कि 'अ' स्वर का अप्राण ध्यान करने से चिन्मात्र निर्विभागा पश्यन्ती के योग से परं पद में विलय हो जाता है।

"अप्राणमस्वरं ध्यात्वा पश्यन्त्या निर्विभागया,
चिन्मात्रस्पर्श योगेन विलीनः स्यात्परे पदे ॥"

देश काल एवं अकार से अपरिछिन्न परा देवी को ही पतञ्जलि योग में प्रज्ञा पारमिता की संज्ञा दी गई है। कहा है--

" निष्प्रपञ्चा निराभासा, निर्विकल्पा निरामया ।
निःस्वभावा परा सूक्ष्मा बिन्दुनाद विवर्जिता ॥
प्रज्ञा पारमिताकारा सर्व बुध्दोदया परा ॥"

विज्ञान तन्त्र में परम शिव ने इस शून्य भूमि का उपदेश किया है। शैव शास्त्रों में भावना के बल से साक्षात्कार की जिस स्थिति की चर्चा की गई है वह केवल माता के गर्भ में परिभ्रमण मात्र है। यहां परापरा भूमि में सकार एवं हकार के (अर्थात् हंस) संघट्ट से जिस

आनन्द की अनुभूति होती है वही महानन्द है। इस यज्ञ में ही सोऽहम् विमर्श का आस्वादन होता है इसका पश्यन्ती के साथ एकीकरण होने पर साधक परास्वरूप हो जाता है। अजपा के इस स्वरूप का उद्घाटन विज्ञान भैरव ग्रन्थ की शिवोपाध्याय कृत टीका में दिया गया है। पीताम्बरा पीठस्थ स्वामी जी कृत ईशावास्य के प्रकाशभाष्य में उपदिष्ट प्राणापान समायोग एवं राजयोग का भी यही तात्पर्य हैं। अजपा की अनुभूति समान रूप में ही प्रतिपादित है।



श्री भैरव पञ्जर कवचम्

पार्वत्युवाच

देव देव महादेव संसार प्रियकारक।
पंजरं वटुकस्यास्य कथनीयं मम प्रभो ।।

श्री शिव उवाच

पूर्वं भस्मासुरत्रासाद् भय विह्वलतां स्वयम् ।
पठनादेव मे प्राणा रक्षितः परमेश्वरि ।।
सर्वदुष्ट विनाशाय सर्वरोग निवारणम् ।
दुःखशान्तिकरं देवि ह्यल्पमृत्युभयापहम् ।।
राज्ञां वश्यकरं चैव त्रैलोक्य विजयप्रदम् ।
सर्वलोकेषु पूज्यश्च लक्ष्मीस्तस्य गृहे स्थिरा ।।
अनुष्ठानं कृतं देवि पूजनं च दिने दिने ।
विना पंजरपाठेन तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ।।

अस्य श्री वटुकभैरव पंजर कवचमंत्रस्य कालाग्नि रुद्रः ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः ॐ वटुकभैरवो देवता। ह्रां वीजं ॐ भैरवी वल्लभा शक्तिः। ॐ दण्डपाणये नमः कीलकम्। मम सकल कामना सिद्धयर्थे जपे विनियोगः।

ॐ ह्रां प्राच्यां डमरुहस्तो रक्तवर्णो महाबलः।
प्रत्यक्षमहमीशान वटुकाय नमोनमः ।।

ॐ ह्लीं दण्डधारी दक्षिणे च पश्चिमे खड्गधारिणे।
ॐ ह्लूं घटावादी मूर्तिरुत्तरस्यां दिशिस्तथा॥
ॐ ह्लैं अग्निरूपो ह्याग्नेय्यां नैर्ऋत्यां च दिगम्बरः।
ॐ ह्लौं सर्वभूतस्थो वायव्ये भूतानां हितकारकः॥
ॐ ह्लश्चवाष्टसिद्धिश्च ईशाने सर्वसिद्धिकरः परः।
प्रत्यक्षमहमीशान वटुकाय नमोनमः॥
ॐ ह्लां ह्लीं ह्लूं ह्लै ह्लौं ह्लः स्वाहा ऊर्ध्वं खेचरिणं न्यसेत्।
रुद्ररूपस्तु पाताले वटुकाय नमोनमः॥
ॐ ह्लीं वटुकाय मूर्ध्नि ललाटे भीमरूपिणम्।
आपदुद्धरणं नेत्रे मुखे च वटुकं न्यसेत्॥
कुरु कुरु सर्वसिद्धिर्देहे गेहे व्यवस्थितः।
वटुकाय ह्लीं सर्वदेहे विश्वस्य सर्वतो दिशि॥
आपदुद्धारकः पातु हयापादतलमस्तकम्।
हसक्षमलवरयुं पातु पूर्वे दण्डहस्तस्तु दक्षिणे॥
हसक्षमलवरयुं नैर्ऋत्ये हसक्षमलवरयुं पश्चिमेऽवतु।
सर्वभूतस्थो वायव्ये हसक्षमलवरयुं घटावादिनउत्तरे॥
हंसः सोहं तु ईशाने चाष्टसिद्धिकरः परः।
शंक्षेत्रपालउर्ध्वे तु पाताले शिव सन्निभः॥
एवं दशदिशो रक्षेद्वटुकाय नमोनमः।
इति ते कथितं ह्लीं श्रीं क्लीं ऐं सदाऽवतु॥
ॐ फ्रें हुं फट् च सर्वत्र त्रैलोक्ये विजयी भवेत्।
लक्ष्मीं ऐं श्रीं लं पृथिव्यां च आकारो हं ममावतु॥
स्रौं प्रौं च्रौं ऊँ यं वायव्यां रं रं रं तेजोरूपिणम्।
ॐ कं खं गं घं ङं वटुकं चं छं जं झं ञं कपालिनम्॥

टं ठं डं ढं णं क्षेत्रेशं तं थं दं धं नं उमाप्रियम् ।
पं फं बं भं मं ममरक्ष यं रं लं भैरवोत्तमम् ।।
वं शं षं सं आदिनाथं लं क्षं वै क्षेत्रपालकम् ।
एवं पंजरमाख्यातं सर्वसिद्धिकरं भवेत् ।।
दुःखदारिद्रय शमनं रक्षकः सर्वतो दिशः ।
आवश्यं सर्वतो वक्ष्यं सर्ववीजैश्च संपुटम् ।।
सर्वरोगहरं दिव्यं सर्वत्र सुखमाप्नुयात् ।
एवं रहस्यमाख्यातं देवानामपि दुर्लभम् ।।
वज्रपंजरनामेदं ये श्रृण्वन्ति वरानने ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं कीर्तिलाभः सुखं जयः ।।
लक्ष्मी मनोरमा बुद्धिस्तेषां गेहे व्यवस्थिता ।
सुशीलाय सुदान्ताय गुरुभक्तिपराय च ।।
तस्य शीघ्रं च दातव्यमन्यथा न कदाचन ।
गोपनीयं प्रयत्नेन सर्वगोप्यमयं भवेत् ।।
यस्मै कस्मै न दातव्यं न दातव्यं कदाचन ।
राज्यं देयं शिरो देयं न देयं भैरवाक्षरम् ।।
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं पठते नरः ।
सर्वपाप विनिर्मुक्तो शिवेन सह मोदते ।।

।। इति श्री भैरव पंजर कवचं समाप्तम् ।।



परिशिष्ठ क्र. १

भ्रान्तिमात्रत्व प्रतिपादनम्

योग वासिष्ठ में भैरव के प्रलयकालीन नृत्य के सम्बन्ध में अत्यन्त सजीव वर्णन दिया गया है। पाठकों की सुविधा के लिए गुरुवर श्री स्वाजी जी महाराज की आज्ञानुसार निर्वाण प्रकरण के दो अध्याय यथावत् प्रकाशित किये जा रहे हैं :--

(योग वासिष्ठ अशीतितमः सर्गः)

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति ते सर्वं आयाता ब्रह्मलोक निवासिनः।
अदृश्यतामेव गता दीपाः क्षीण दशा इव ॥
अथ ते द्वादशादित्या ब्रह्मणि ब्रह्मतां गते।
जगद्वद्ब्रह्मलोकं तमदहन्भास्वरार्चिषः ॥
वैरिञ्चिनगरं दग्ध्वा ध्यानं कृत्वा विरञ्चिवत्।
तेऽपि निर्वाणमाजग्मुनिःस्नेह दशदीपवत् ॥
तत एकार्णवापूरो विरञ्चनगरान्तरम्।
रात्रौ भुवमिव ध्वान्तं पूरयामास सूर्मिमान् ॥
आब्रह्मलोकमभवज्जगदापूर्णमर्णसा।
तुल्यं रसैकपूर्णेन पक्वद्राक्षा फलेन तत् ॥
तत्तर्दूमिगिरिव्रात खगैरावलिताखिलाः।
विच्छिन्नाः कल्प जलदा जल एव निलिल्यरे ॥

एतस्मिन्नन्तरे तत्र दृष्टवानहमम्बरात् ।
यावदभ्युदितं भीमं भीतः किंचिन्नभोन्तरात् ।।
कल्पान्त जगदाकारं कृष्णमापूरिताम्बरम् ।
आकल्पं संभृतं नैशं देहेनेवोत्थितं तमः ।।
तारुणादित्यलक्षाणां तेज आभास्वरं दधत् ।
आदित्यत्रयसंकाशैः स्थिरविद्युच्चयोल्वणैः ।।
नेत्रैराभास्वरमुखं ज्वालापुञ्जसमुद्गिरम् ।
पञ्चाननं दशभुजं त्रिनेत्रं शूलपाणिकम् ।।
आयान्तमन्तमुक्तेऽपि व्योम्नीव वितताकृतिम् ।
खमिवासि घनश्यामं देहमासाद्य संस्थितम् ।।
स्थितमेकार्णवा पूर्णाद्ब्रह्माण्डाद्बहिरम्बरे ।
व्योमेव हस्तपादादि संनिवेशेन लक्षितम् ।।
घोणानिलपरावृत्तिर्विधूतैक महार्णवम् ।
गोविन्दमिव दोर्दण्ड क्षोभितक्षीरसागरम् ।।
कल्पार्णवजलापूरं पुंस्त्वेनैव समुत्थितम् ।
मूर्ति युक्तमहंकारमस्तकारणमागतम् ।।
कुलाचलबृहद्द्वृन्दमिवोड्डुयन ऽम्बरैः ।
पक्षौघैरुत्थितं व्योम समस्तमभिपूरयत् ।।
ततस्त्रिशूलनयनैर्मया रुद्रोऽयमित्यसौ ।
दूरादेव परिज्ञाय परमेशो नमस्कृतः ।।

श्रीराम उवाच

किं स तादृग्विधो रुद्रः किं कृष्णः किं महाकृतिः ।
किं पञ्चवदनः कस्माद् दशवाहुः स तिष्ठति ।।

किं त्रिनेत्रः किमुग्रात्मा किमेकः किं प्रयोजनः ।
केनेरितः किमकरोच्छायासीद्वद का मुने ।।

श्रीवसिष्ठ उवाच

काकुत्स्थ रुद्रनामासावहंकारतयोत्थितः ।
विषमैकाभिमानात्मा मूर्तिरस्यामलं नभः ।।
व्योमाकृतिः स भगवान्व्योमवर्णो महाद्युतिः ।
चिद्व्योममात्रसारत्वादाकाशात्मा स उच्यते ।।
सर्वभूतात्मभूतत्वात् सर्वगत्वान्महाकृतिः ।
यानि तस्यानुषक्तानि पञ्च खानीन्द्रियाण्यलम् ।।
तानि तस्य मुखान्याहुस्तपद्रूपाणि सर्वतः ।
कर्मेन्द्रियाणि विषयास्ते हि तस्य भुजा दश ।।
सर्वभूतनरैः सार्धं ब्रह्मणा परमेयुषा ।
यदासौ संपरित्यक्तस्तदा स्वां मूर्तिमागतः ।।
स चैकांशैकरूपात्मा नास्ति तस्य हि साकृतिः ।
तथा दृश्यत एवासौ भ्रान्तिमात्रेण मूर्तिमान् ।।
चिदाकाशगते स्फारे भूताकाशे स तिष्ठति ।
देहे च सर्वभूतानां नित्यं वायुरिवेश्वरः ।।
सर्वभूतपरित्यक्तस्तस्मिनकाले खमूर्तिमान् ।
क्षोभयन्स क्षणं क्षीणः परमां शान्तिमेष्यति ।।
ये गुणाकृतयः कालाश्चित्ताहंकारबुद्धयः ।
प्रणवस्य च ये वर्णा ये च वेदास्तथा त्रयः ।।
रुद्रस्य तस्य ते नेत्रसंनिवेशेन संस्थिताः ।
त्रिशूलं तेनत्रैलोक्यं गृहीतं करकोटरे ।।

यस्मात्तद्व्यतिरेकेण सर्वभूतगणेष्वपि ।
अन्यन्न विद्यते किंचिद्देहात्मैव ततः स्थितः ॥
सर्वसत्त्वोपलम्भात्मा स्वभावोऽस्य प्रयोजनम् ।
ईरितः शिवरूपेण चिन्मात्राकाशरूपिणा ॥
तेनैव च निगीर्णः सन्परमां शान्तिमेत्यसौ ।
निर्मलाकाशरूपात्मा कृष्ण इत्येष ईश्वरः ॥
कृत्वा कल्पं जगत्सर्वं तत्पीत्वैकार्णवं तदा ।
स प्रयाति परां शान्तिमभूयः संनिवृत्तये ॥
अनन्तरं मया दृष्टस्तत्रासौ यावदुद्यमात् ।
प्रवृत्तः प्राणवेगेन तमाक्रष्टुं महार्णवम् ॥
अथ तस्य मुखं स्फारं ज्वालामालाकुलान्तरम् ।
प्राणाकृष्टो महाम्बोधिवाडवाग्निमिवाविशत् ॥
स एव वाडवो भूत्वा वह्निराकल्पमर्णवे ।
अहंकारः पिबत्यम्बु रुद्रः सर्वं तु तत्तदा ॥
पातालमिव पानीयं सर्पो बिलमिव क्षणात् ।
पञ्चवायुरिवाकाशमविशत्तन्मुखं जवात् ॥
समुपेत्यापिबद्रुद्रः स मुहूर्तेन तत्पयः ।
कृष्णाङ्गोऽर्क इवध्वान्तं सत्संपर्क इवागुणम् ॥
आब्रह्मलोकपातालं शान्तं शून्यमथाभवत् ।
रजोधूमानिलाम्भोधिभूतमुक्तं समं नभः ॥
केवलं तत्र दृश्यन्ते चत्वारो व्योमनिर्मलाः ।
इमेपदार्था निस्पन्दाः शृणु तान्रघुनन्दन ॥
एकस्तावदसौ मध्ये रुद्रः कृष्णाम्बराकृतिः ।
निराधारः स्थितो व्योम्नि निस्पन्दामोदबिम्बवत् ॥

द्वितीयोऽवस्थितो दूरे पृथ्व्याकाशतलोपमः ।
भागो ब्रह्माण्डसदनस्याधः पातालसप्तकात् ।।
पाताल भूतलदिवां सशैलेन्द्रदिवौकसाम् ।
व्यातः पार्थिव भागेन पङ्कमात्रात्मनात्मभाक् ।।
तृतीयोऽत्र पदार्थोऽभूदूर्ध्वं ब्रह्माण्डभागभूः ।
दृष्टिक्षयात्सुदूरत्वाद् दुर्लक्ष्य गगनासितः ।।
दूरविश्लिष्टयोर्मध्यं यत्तत्ब्रह्माण्डखण्डयोः ।
तदाकाशमनाद्यन्तं ब्रह्म निर्मलमाततम् ।।
चतुर्थोऽसौ पदार्थस्तु तदा संलक्षितो मया ।
चतुष्टयादत्र नान्यदेतदस्मादेव किंचन ।।

श्रीराम उवाच

बहिः किं विद्यते ब्रह्मन्ब्रह्मसद्मकटाहृतः ।
कास्तत्रावरणा ब्रूहि कियत्यः संस्थिताः कथम् ।।

श्रीवसिष्ठ उवाच

ब्रह्माण्डखण्डयोः पारे ततो दशगुणं जलम् ।
संध्याकाशमनन्तं तद्वर्जयित्वा ततः स्थितम् ।।
ततस्तथैव ज्वालात्म तेजो दशगुणं स्थितम् ।
ततस्तथैव पवनः पवनो निर्मलः स्थितः ।।
ततस्तथैव विमलं नभो दशगुणं स्मृतम् ।
ततः परममत्यच्छं ब्रह्माकाशमनन्तकम् ।।
अन्यत्रान्यत्र तस्याथ दृष्टयोऽन्यास्तथैव खे ।
कचन्त्यनन्ता दूरस्था मिथो दृष्टात्मसृष्टयः ।।

श्रीराम उवाच

उर्ध्वं ब्रह्माण्डखण्डस्य तथाधस्तान्मुनीश्वर ।
तज्जलादिमहाकारं क्व कथं केन धार्यते ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स पार्थिवपदार्थानां स्थितः पुष्करपत्रवत् ।
भागस्तमेवाधावन्ति ते सुता मातरं यथा ॥
अतो यदेव नेदीयो ब्रह्माण्डाख्यं महावपुः ।
तत्पदार्थाः प्रधावन्ति तृषिताः सलिलं यथा ॥
अवलम्ब्य तदेवान्तः संस्थितास्तैजसादयः ।
न स्थितिं प्रविमुञ्चन्ति स्वां यथावयवाइव ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन्ब्रह्माण्डखण्डे ते तिष्ठतः कथमुच्यताम् ।
किमाकृती धृते केन कथं वा परिनश्यतः ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अधृतं धृतमेवोच्चैरपतच्चैव वा पतत् ।
अनाकृत्येव साकारं जगत्स्वप्नपुरं यथा ॥
किमस्य नाम पतति किंवा केनास्य धार्यते ।
यथा संवित्ति कचनं तथैतदवतिष्ठते ॥
यथा केशोण्ड्रकं व्योम्नि यथा च व्योम्नि शून्यता ।
यथा वा पवने स्पन्दो जगच्चिद्गगने तथा ॥

चितौ संकल्प नगरं ब्रह्माण्डाख्यं जगद्गृहम् ।
खे खमेवाप्यनाकारं प्रत्याकारमिव स्थितम् ।।
पातसंवित्समुद्भूतं पतदास्ते दिवानिशम् ।
गच्छन्त्या संविदोद्भूतं गच्छदास्ते दिवानिशम् ।।
स्थितसंवित्समुद्भूतं तिष्ठदास्ते दिवानिशम् ।
उत्पतन्त्या चितोद्भूतमुत्पतश्चैव तिष्ठति ।।
एतिनाशविदा नाशं महाकल्पादिवेदनैः ।
जायते जन्म संवित्या व्योम्नि सर्वादिवेदनैः ।।
अभाति मौक्तिकगणः शरदम्बरान्त-
दृंष्टावसत्य उदितोऽप्यति सत्यरूपः ।
भ्रान्त्या यथा नभसि च स्फुरतां तथैषां
संख्यां विधातुमिह को जगतां समर्थः ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० भ्रान्तिमात्रत्वप्रतिपादनं नामाशीतितमः सर्गः ।।



परिशिष्ठ क्र. २

कालरात्रि वर्णनम्

(एकाशीतितमः सर्गः)

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ राघव रुद्रं तं तदा तस्मिन्महाम्बरे ।
प्रवृत्तं नर्तितुं मत्तमपश्यं विततार्कृतिम् ।।
व्योमेवाकृतिमापन्नमजहद्व्यापितां निजाम् ।
महाकारं घनश्यामं दशाशापरिपूरकम् ।।
अर्केन्दुवह्निनयनं चलद्दशदिगम्बरम् ।
घनदीर्घप्रभाजालमालानं श्यामलार्चिषाम् ।।
वडवाग्निदृशं लोलभूजोर्मिभरभासुरम् ।
एकार्णवार्णो द्रागदेहवन्धेनेव समुत्थितम् ।।
पश्याम्यनन्तरमहं यावत्तस्य शरीरतः ।
छायेवपरिनिर्याति नर्तनानुविधायिनी ।।
सूर्येऽविद्यमानेषु महातमसि चाम्बरे ।
स्थिता कथमियं छाया भवेदिति मतिर्मम ।।
यावद्विचारयाम्याशु तावत्तस्य तदा पुरः ।
सा स्थिता परिनृत्यन्ती विस्तीर्णा श्रीत्रिलोचना ।।
कृष्णा कृशा शिरालाङ्गी जर्जराविततार्कृतिः ।
ज्वालाकुलानलालोल वनसंभार शेखरा ।।

भिन्नाञ्जनतमः श्यामा यामिनी वा कृतिं गता ।
तमः श्रीर्देहयुक्तेव साकारेवाम्बरद्युतिः ॥
अतिदीर्घा करालास्या नभो मातुमिवोद्यता ।
दीर्घजानुभुजभ्रान्त्या मातुकामेव दिङ्मुखम् ॥
कृशा बहूपवासेव परिनिम्नमहातनुः ।
कज्जलश्यामला मेघमालेव पवनाकुला ॥
कृशासक्ता यदा स्थातुं सुदीर्घा विधिना तदा ।
ग्रथितेव शिरारूपैर्दामभिर्दैर्घ्यशालिभिः ॥
तथा नाम सुदीर्घा सा यथा तस्याः शिरःखुरम् ।
मया दृष्टं प्रयत्नेन चिरोर्ध्वाधोगमागमैः ॥
अन्त्रान्त्रतन्त्रीग्रथित शिरः करखुरोत्करा ।
आमूलात्सूत्रवलिता कण्टकानामिव स्थली ॥
विश्वरूपमयार्कादिशिरः कमलजालकैः ।
कृतमालामलालोक वात वह्निमयाञ्चला ॥
प्रलम्बकर्णालुलितनागा नृशवकुण्डला ।
शुष्कतुम्बीलताष्ठीलादीर्घालोला सितस्तनी ॥
कुमारबर्हिपिच्छौघैः ब्राह्ममूर्धजमण्डलैः ।
लाञ्छितोच्चसुराधीशशिरः खट्वाङ्गमण्डला ॥
दन्तेन्दुमालाविमला विमलोद्द्योतपाततः ।
तमोर्णवोर्द्धलेखेव वृत्तावर्तं विवर्तिनी ॥
शुष्कतुम्बीलतेवोच्चैराकाशतरु संस्थिता ।
विलोलावयवाष्ठीला वातैः पटपटारवा ॥
बृहत्तरङ्गोर्ध्वभुजा श्यामलोल्लासशालिनी ।
एकार्णवोर्मिमालेव नृत्तावृत्तिविवर्तिनी ॥

क्षणमेकभुजाकारा क्षणं बहुभुजाकुला ।
अनन्तोग्रभुजाक्षिप्त जगन्नर्तन मण्डपा ॥
क्षिप्रमेकमुखाकारा क्षिप्रं बहुखाकृतिः ।
अनन्तोग्रमुखी क्षिप्रं निर्मुखी चापि च क्षणम् ॥
एकपादान्विता क्षिप्रंक्षिप्रं पादशतान्वितम् ।
क्षणं चानन्तपादाढ्या निष्पादाकारिणी क्षणम् ॥
कालरात्रिरियं सेति मयानुमितदेहिका ।
कालीभगवती सेयमितिनिर्णीतसज्जना ॥
ज्वाला पूर्णारघट्टोग्रखाताभनयनत्रया ।
ज्वलद्धरेन्द्रनीलाद्रि सानूपमललाटभूः ॥
लोकालोकेन्द्रनीलोग्र श्वभ्रभीमहनुद्वया ।
वातस्कन्धगुणप्रोततारामुक्ता कलापिनी ॥
इन्द्रनीलाद्रितुल्योच्चतोरणोच्चैः प्रभाम्बरे ।
विश्रान्तकाचशैलाभ भगभीषणवायसी ॥
नृत्यद्भुजलतापुष्पैः नखशुभ्राभ्रमण्डलैः ।
पूर्णचन्द्रशतानीव भ्रमयन्ती नभस्तले ॥
भ्रमद्भिर्व्याप्तदिक्चक्रा भुजैः कल्पाम्बुदैरिव ।
वर्षद्भिः प्राणिजप्रान्ततारालेखाबृहत्प्रभाः ॥
नखपुष्पाङ्गुलीवल्लीजालैः भ्रान्तभुजद्रुमैः ।
कृष्णैः काननिताशेषगगनाग्रोग्रमूर्तिभिः ॥
तमालतालतःस्थूलां भुवं दग्धमहावनैः ।
विडम्बयन्ती वलितां जङ्घासङ्घेन लोलता ॥
अप्यनन्ते महाव्योम्नि पारं प्राप्तैः शिरोरुहैः ।
कुर्वाणेवाततं वासं चरत्तिमिरदन्तिनः ॥
उह्यन्ते मेरवो येन तेन निश्वासवायुना ।
घनघंघुमदिक्चक्र गगनग्रामघोषिणा ॥

घनमारुतफूत्कारक्ष्वेडगेयं प्रगायता ।
नियतानुनयनेव चलिता सानुवृत्तिना ॥
ततो नृत्तवशावेशाद्वर्धमानशरीरिणी ।
मया दृष्टावधानेन गगनाभोगभूरिणा ॥
यावत्तयाऽऽवृता देहे हेलावलनसारया ।
माला मलयकैलाससह्यमन्दरमेरुभिः ॥
आसीत्तस्या युगान्ताभ्रमालिका पट्टपट्टिका ।
आदर्शमण्डलान्यङ्गे त्रीणिलोकान्तराणि च ॥
कर्णयोर्हिमवन्मेरु रूप्यकाञ्चनमुद्रिके ।
ब्रह्माण्डघुंघुमैर्माला महती कटि मेखला ॥
स्रजः कुलाचलाः शृङ्गवनपत्तनगुच्छकाः ।
जरत्पुरवनद्वीप ग्रामपेलवपल्लवाः ॥
तस्या अङ्गेषु दृष्टानि पुराणि नगराणि च ।
ऋतवश्च त्रयो लोका मासाहोरात्रमालिकाः ॥
मुक्तालतादिकं नद्यः कालिन्दीत्रिपथादिकाः ।
धर्माधर्मावुभौ कर्णभूषणे चान्यकर्णयोः ॥
स्तनास्तस्यास्तु चत्वारः स्रवद्धर्मपयोलवाः ।
वेदाः सकलशास्त्रार्थ चतुः संस्थानचूचुकाः ॥
त्रिशूलैः पटिशैः प्रासैः शरशक्त्यृष्टिमुद्गरैः ।
निर्यदायुधजालानि स्रग्दामानि विभर्त्ति सा ॥
चतुर्दशविधा भूतजातयो याः सुरादिकाः ।
तस्याः शरीरशालिन्यास्ता लोमावलयः स्थिताः ॥
तस्याश्च नगरग्रामगिरयो देहशायिनः ।
नृत्यन्त्या सह नृत्यन्ति पुनर्जन्म मुदेव ते ॥
जङ्गमात्मैकमेवैतज्जगदस्थावरं तदा ।
नृत्यतीति मया ज्ञातं परलोके सुखं स्थितम् ॥

निगीर्णं जगदङ्गस्थं कृत्वा तृप्तिमुपागता ।
परिनृत्यति सा मत्ता जगज्जीर्णाहि चातकी ॥
आदर्शप्रतिबिम्बस्थमिवाभात्यखिलं जगत् ।
तस्या वपुषि विस्तीर्णे स्वरूपिणी सरूपधृक् ॥
सा न नृत्यति तत्सर्वं सशैलवनकाननम् ।
जगन्नृत्यति नानात्म भूत्वा पुनरुपागतम् ॥
तज्जगन्नर्तनं चारु तद्देहादर्श संस्थितम् ।
चिरं मया तदा दृष्टमविनष्टं पुनःस्थितम् ॥
विचलत्तारकाजालं भ्रमत्पर्वतमण्डलम् ।
मशकव्यूहवद्वातव्याधूतामर दानवम् ॥
संग्रामोन्मुक्तचक्राभ द्वीपार्णववृताम्बरम् ।
हेलाविवलनावर्त प्रौढ़ शैलधरातृणम् ॥
नीलमेघांशुकावृत्ति वातघुंघुमिताम्बरम् ।
काष्ठास्थादि स्फुटास्फोट पटत्पटपटारवम् ॥
जगत्पदार्थैर्व्यामिश्रैरमिश्रैः मुकुरैर्यथा ।
व्याप्तमाभोगिभांकारैः अङ्गैरङ्गभ्रमैस्तथा ॥
मेरुर्नृत्यति लोलोच्चकुलाचल बृहद्भुजः ।
भ्रमदभ्रपटोपेत नमत्तनुतनूरुहः ॥
अत्यजन्तः समुद्राश्च मर्यादामुद्रणं द्रुमाः ।
भूमेर्नभस्तलं यान्ति नभसो यान्ति भूतलम् ।
पुराणि घर्घरारावैर्दृश्यन्ते लुंठतान्यधः ।
सगृहाट्टालवास्तव्यं न च किंचिल्लुठत्यधः ॥
तस्यां भ्रमन्त्यां चतुरं चन्द्रार्कदिनरात्रयः ।
नखाग्रलेखालोकान्त भ्रान्तिकाञ्चनसूत्रवत् ॥
विभान्ति सृष्टयस्तस्या घर्माणि जलजालिकाः ।
इव नीहारहारिण्या नीलवारिदवाससः ॥

खमेव तस्याः संपन्नं कबरीमण्डलं बृहत् ।
पातालं चरणौ भूमिरुदरं बाहवो दिशः ॥
द्वीपाब्धयोऽन्त्रवलयः पार्श्वकाः सर्वपर्वताः ।
प्राणापानावलीदोलाः पवनस्कन्धशालिकाः ॥
तदानुभूतं नृत्यन्त्यास्तस्या वपुषि विस्तृते ।
हिमवन्मेरुसह्याद्रैः दोलनभ्रममद्रिभिः ॥
तरदद्रिगुलच्छास्ता वलयन्त्या तया स्रजः ।
पुनः कल्पान्त आरब्ध इव ताण्डवहेलया ॥
सुरासुरोरगानीकरोमशाङ्कः शरीरकः ।
निस्पन्दं स्थातुमशकन्नसौ भ्रमति चक्रवत् ॥
नानाविभवविज्ञान यज्ञ यज्ञोपवीतिनी ।
सा सरन्ती नभस्यासीद्घनघूत्कार घोषिणी ॥
तत्र भूतलमाकाशमाकाशमपि भूतलम् ।
प्रतिकृति भवत्यन्तरं च किंचिद्विवर्तते ॥
बृहन्नासागुहागेहनिर्गता घनघुंघुमाः ।
तत्रोग्रा वायवो वान्ति घोरघूत्कारकारिणः ॥
नभः करशतैस्तस्याश्चतुरावृत्तिवर्तिभिः ।
भाति चण्डानिलोद्धूतैराकीर्णमिव पल्लवैः ॥
तदङ्गजजगद्वस्तुजात भ्रमण संभवात् ।
दृष्टिर्धीरापि मे मोहेसन्ना सेनेव संगरे ॥
प्रोह्यन्ते यन्त्रवच्छैला निपतन्ति नभश्चराः ।
लुठन्त्यमरगेहानि वलिते देहदर्पणे ॥
मेरवः पर्णवद्व्यूढा मलयाः पल्लवा इव ।
हिमाद्रयो हिमकणा इवोर्व्योऽब्जलता इव ॥
सह्या मह्यामिवखगा विन्ध्याविद्याधरा इव ।
वृक्षावर्ते भ्रमन्तोऽन्ता राजहंसा इवाम्बरे ॥

द्वीपान्यपि तृणानीव समुद्रा वलया इव ।
सुरलोकालयः पद्मा आसंस्तद्देहवारिणि ॥
विशदाकाशसंकाशे स्वप्नाञ्जनपुरोपमे ।
अङ्गे तस्या बृहज्जङ्घे पिण्डादित्यसमत्विषि ॥
विन्ध्योनृत्यति काञ्चनाचलवनेसह्यश्च सह्योगिरिः,
कैलासोमलयो महेन्द्रशिखरी क्रौञ्चाचलो मन्दरः ।
गोकर्णो गगनाङ्गणे वसुमती विद्याधराणां पुरं,
सर्वे जंगमतां गता वनभुवस्तस्याः शरीरे सदा ॥
अब्धिर्नृत्यति पर्वतेगिरिरपि प्रोच्चैर्नभः कोटरे,
व्योमापीन्दुदिवाकरैः क्व चलितं भूमेरधस्ताद्गतम् ।
सद्वीपाचलपत्तनो वनगणः प्रोत्कीर्णपुष्पो दिवि,
व्यालोलं जगदम्बुधाविव तृणदिक्चक्रकेभ्राम्यति ॥
व्योम्नि भ्रमन्ति गिरयोऽम्बुधयो दिगन्ते,
लोकान्तराणि पुरपत्तनमण्डलानि ।
नद्यः सरांसि मुकुरान्तरिव प्रवृद्ध-
वातावकीर्णं तृणविक्रमण क्रमेण ॥
मत्स्याश्चरन्ति च मरौ वर वारिणीव,
व्योम्नि स्थिराणिनगराणि भुवीव भान्ति ।
खे भूधरा गगनसंक्षयवारिवाह-
मुत्पातवातपरिवृत्तगिरिस्थितं तत् ॥
ऋक्षोत्करो भ्रमति दीपसहस्रयन्त्र
चक्रक्रमेण मणिवर्षण वेगचारुः ।
अन्तर्वहिश्च परितः प्रणयेन मुक्तं
विद्याधरामरगणैरिव पुष्पवर्षम् ॥
संहारसर्गनिचया दिनरात्रिभागे
विन्दूपमा रजतयोर्दिवसोत्करा्श्च ।

कृष्णाः सिताश्च परितोऽमलशुक्लकृष्ण-
स्वादर्शमण्डलवदाकुलमुल्लसन्ति ॥
रत्नानि भास्करनिशाकरमण्डलानि
तारोत्करास्तरलमण्डलकान्तिहाराः ।
स्वच्छाम्बराणि वलितानि महाम्बराणि
कुर्वन्त्यनारतमनल्पमलातलेखाः ॥
कल्पान्तकालविलुठत्त्रिजगन्मणीनि
व्यावर्तनैर्झगिति जातझणज्झणानि ।
तेजांसि झंकृततयोर्ध्वमधश्च यान्ति
नानाविधानि गुणवन्ति विभूषणानि ॥
संग्राममत्तभटखड्गमरीचिवीचि-
श्यामायमानसकलातपवासराणाम् ।
व्यावृत्तिभिर्विलुठतामपि सुस्थिरणा-
माकर्ण्यते कलकलो जनमण्डलानाम् ॥
ब्रह्मेन्द्रविष्णुहरवह्निरवीन्दु पूर्वा
देवासुराः परिविवृत्तिभिरापतन्तः ।
अन्येऽन्य एव विविधा उपयान्ति यान्ति-
वातावधूतमशकाशनिविभ्रमेण ॥
संहारसर्गसुखदुःखभवाभवेहा-
नीहानिषेधविधिजन्मभृतिभ्रमाद्याः ।
सार्धं पृथक्च विलसन्ति सदैव सर्गे
व्यामिश्रतामुपगता अपि तत्र भावाः ॥
भावोद्भवस्थितिविपत्करणभ्रमाणां
संहारसर्गभुवनावनिविभ्रमाणाम् ।
मिथ्यैव खे प्रकचतां खशरीरकाणां
संलक्ष्यतेऽत्र नभनागपिनाम संख्या ॥

उत्पातशान्तिमरणोत्सवयुद्धसाम्य-
विद्वेषरागभयविश्वसनादि तत्र ।
एकत्र कोश इव रत्नचयो विभाति
नानारसाप्रतिघसर्गपरम्परं तत् ॥

तस्याश्चिदम्बरमये विपुषि स्वभाव-
भूतास्फुटानुभवभावजगद्व्यवस्थाः ।
सर्वेक्षया मलिनदृक्कलिताम्बरस्थ-
केशोण्ड्रकस्फुरणवत्परितः स्फुरन्ति ।

जगत्संक्षुब्धमक्षुब्धं दृश्यते स्थितिसंस्थिति ।
संचाल्यमानमुकुरप्रतिबिम्ब इवास्थितम् ॥
नृत्यस्फुरत्प्रतापान्तर्जगदर्थाः प्रतिक्षणम् ।
स्थितिं त्यजन्ति गृह्णन्ति बालसंकल्पसर्गवत् ॥
क्रियाशक्तिः शरीरेऽन्तः पूर्यमाणा अनारतम् ।
राशीभूय विशीर्यन्ते जगन्मुद्गकणोत्कराः ॥
क्षणमालक्ष्यते किंचिन्नकिंचिदपि सा क्षणम् ।
क्षणमङ्गुष्ठमात्रैव क्षणमाकाश पूरिणी ॥
यस्मात्सा सकला देवी संविच्छक्तिर्जगन्मयी ।
अनन्ता परमाकाश कोश शुद्धशरीरिणी ॥

कालत्रयस्थितजगत्त्रितयान्तरी हि-
चित्सा तथा कचति तेन यथास्थितेन ।
रूपेण चित्रकृदुदारमनःस्थचित्र-
संसारजालसदृशेन कचज्जवेन ॥

सर्वात्मकैकवपुरेकचिदात्मतत्त्वा-
त्संशान्तखैकवपुरे कचिदात्मतत्त्वात् ।
एवं निमेषण समुन्मिषितैकरूपं
सा बिभ्रती वपुरनन्तमनादिभाति ॥

तस्यां विभाति तदनन्तशिलात्मकोशे
लेखाब्जचक्ररचनादिवदेव दृश्यम् ।
व्योमात्मकं गगनमात्रशरीरवत्यां
चित्त्वाद्द्रवज्जलधिकोश इवोर्मिलेखा ।।

महतीभैरवीदेवी नृत्यन्त्यापूरिताम्बरा ।
तस्यकल्पान्त रुद्रस्य सा पुरो भैरवाकृते ।।
शिरोमन्दाश्रितोग्राग्नि दग्धस्थाणुवनावनिः ।
कल्पान्तवातव्याधूता वनमालेव नृत्यति ।।
कुद्दालोलूखलबृसी फलकुम्भकरण्डकैः ।
मुसलोदञ्चनस्थालीस्तम्भैः स्रग्दामधारिणी ।।
एवं विधानां स्रग्दामजालानां कुसुमोत्करम् ।
किरन्ती संसृजन्तीवनृत्तक्षुब्धं क्षयक्षतम् ।।
वन्द्यमानस्तया सोऽपि तथैवाकाश भैरवः ।
तथैव विततकारस्तदोच्चैः परिनृत्यति ।।

डिम्बं डिम्बंसुडिम्बं पचपच सहसा, झम्य झम्यं प्रझम्यम् ।
नृत्यन्ती शब्दवाद्यैः स्रजमुरसि शिरः शेखरं तार्क्ष्यपक्षैः ।।
पूर्णं रक्तास्रवानां यम महिष महा शृङ्गमादाय पाणौ ।
पायाद्वो वन्द्यमानः प्रलयमुदितया, भैरवः कालरात्र्या ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे
उ० पाषा० कालरात्रिवर्णनं नामैकाशीतितमः सर्गः ।।



शुद्धि-निरूपण

वैदिक साधना में बाह्य शरीर आदि की शुद्धि पर विशेष आग्रह है। कालान्तर में बाह्य शुद्धि ही साधना का मुख्य अङ्ग बन गई तथा अन्ततोगत्त्वा बाह्य शुद्धि ने ही साधना का रूप धारण कर लिया एवं अस्पर्शता को वर्ण-व्यवस्था का धर्म स्वीकार कर लिया गया एवं जाति भेद ने समाज में उच्च एवं नीच की भावना को प्रोत्साहित किया। साधक स्नान, तिलक, चन्दन, भस्म लेपन आदि से स्वरूप बनाने में ही अपने को कृतकृत्य मानने लगा। बौद्ध विचारकों ने धर्म के इस बाह्य आडम्बर के खोखलेपन को पहचान लिया तथा स्नान आदि बाह्य शुद्धि तथा जातिवाद के अवलेप को जड़ता की संज्ञा प्रदान की। जैसा कि कहा है—"**स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः। प्रायश्चित्तं पापहा नाथ चेति, ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्चलिङ्गानि जाड्ये**" ॥

वेदान्तिक, तान्त्रिक एवं आगमिक बौद्धविरोधी क्रान्तिकारी विचार-प्रवाह ने यद्यपि बौद्ध-नास्तिकता का उन्मूलन करने में सफलता प्राप्त की तथापि वह आत्मा एवं ब्रह्म तथा कर्मकाण्ड पर पुनर्विचार करने पर बाध्य हो गये तथा धर्म को नवीन स्वरूप दिया गया जिस में बाह्य शुद्धि का स्थान आन्तर्शुद्धि ने ग्रहण किया। जल से शारीरिक शुद्धि, सत्य से मानसिक शुद्धि, विद्या-तप से भूतात्मा की शुद्धि तथा ज्ञान से बुद्धि की शुद्धता का सिद्धान्त अपनाया गया। कहा है--

"अद्भिः गात्राणि शुद्ध्यन्ति, मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति" ॥

श्रवण-मनन-निदिध्यासन को अन्तः शुद्धि का साधन वेदान्त ने स्वीकार किया।

तान्त्रिकों ने भी स्पष्ट रूप से कहा कि अल्प मात्र बोध युक्त धर्म-शास्त्रियों ने मृत्तिका जल आदि से जिस शुद्धि का प्रतिपादन किया है वह शुद्धि शंभुदर्शन में ग्राहय नहीं है उसको भी अशौच की श्रेणी में ही माना है। जल आदि से सम्पादित शुद्धि तत्त्वज्ञान के प्रति अकिंचित्कर है अतः इसका अङ्ग नहीं हो सकती। जैसा कि कहा है--

"मृज्जलादिविशुद्धोऽपि न पवित्रो बहिर्मुखः ।
बहिर्निमलमभ्यस्थ पुरीष कलशादिवत्" ॥

मृत्तिका जल आदि से बाह्य पवित्रता होने पर भी पवित्र नहीं है। जिस प्रकार स्वर्ण कलश बाहर से निर्मल हो किन्तु भीतर मल पुरीष भरा हो तब उसको पवित्र नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार बाहर से शरीर पवित्र होने पर भी अन्तः में मल से युक्त होने के कारण पवित्र नहीं कहा जा सकता। नाना प्रकार के विकल्प काम-क्रोध आदि ही अशुद्धि हैं अतः निर्विकल्प ज्ञान के द्वारा अन्तः शुद्धि होने पर ही शुद्ध कहा जा सकता है। अतः तन्त्र में समस्त स्नानों का फलभूत मुख्य मानस स्नान ही स्वीकार किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी कहा है--

"इज्याचार दमाहिंसा दान स्वाध्याय कर्मणाम्।
अयं स परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥"

यदि मृत्तिका आदि से शुद्धि न भी की जावे तब भी परमात्मा की कोई हानि नहीं हैं क्यों कि वह आकाश तुल्य निराकार है और यदि बाह्य शुद्धि की भी जावे तब भी आत्मा में कोई वृद्धि नहीं हो जाती। देह जल आदि से शुद्ध होने पर भी अपवित्र ही है। अतः मृत्तिका आदि से शौच के बिना भी निर्विकल्प ज्ञान से मानसिक मल की शुद्धि निश्चित है (विज्ञान भैरव पर शिवोपाध्याय कृत विवृति)। विज्ञान भैरव में कहा है—

"किंचिज्ज्ञैर्या स्मृता शुद्धिः साऽशुद्धिः शंभुदर्शने।
न शुचिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पः सुखी भवेत्"॥१२३॥

कुलार्णव में भी कहा है कि कुल धर्म में मन्त्रोदक के बिना सन्ध्या-पूजा एवं होम के बिना जप, उपचार के बिना याग का समाचरण योगी नित्य कर सकता है। योगी वह है जो निःसङ्ग अथवा विसङ्ग वासना से उत्तीर्ण एवं निज स्वरूप में निर्मग्न है। कहा है--

"मन्त्रोदकैः विना सन्ध्या, पूजा होमः विना जपः ।
उपचारैः विनायागं योगी नित्यं समाचरेत्" ॥
"निःसङ्गश्च विसङ्गश्च निस्तीर्णोपाधि वासनः ।
निज स्वरूप निर्मग्नः स योगी परतत्त्ववित्" ।

शाक्त मार्ग के अनुसार देह ही देवालय है जिस में सदाशिव देव के रूप में विराजमान हैं, अज्ञान का त्याग कर सोऽहं भाव से इस देवता की पूजा करनी चाहिये । अत एव यहां विधि निषेध, पुण्य-पाप, तथा स्वर्ग-नरक का विधान नहीं है । जैसा कि कहा है :—

"देहो देवालयो देवि, जीवो देवः सदाशिवः ।
त्यजेदज्ञान निर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत् ॥
न विधिः न निषेधः स्यात्, न पुण्यं न च पातकम् ।
न स्वर्गो नैव नरकं कौलिकानां कुलेश्वरि" ॥

महा निर्वाण तन्त्र में भी इसी प्रकार कहा गया है । ब्रह्म बुद्धि से निर्विकल्प के आचरण का नाम ही कुलाचार है । महा काल भैरव ने आद्या काली से कहा कि यह कुलाचार ही धर्म, काम, अर्थ, मोक्ष का दाता है । इस आचार की दीक्षा में कोई प्रतिबन्ध नहीं है । पिता पुत्र को, भ्राता अन्य भ्राता को, पति अपनी पत्नी को दीक्षित कर सकता है । सिद्ध ब्रह्म मन्त्र की दीक्षा में इस का कोई निषेध नहीं है । ब्रह्म मन्त्र का निरूपण पूर्व में 'ब्रह्म के स्वरूप लक्षण' नामक अध्याय में किया है । ब्रह्म गायत्री यहां कहते हैं :— "परमेश्वराय विद्महे परतत्त्वाय धीमहि तन्नो ब्रह्म प्रचोदयात्" । इसके जपने में काल शुद्धि, नियम, स्थान-निरूपण, भोजन, स्नान आदि की विधि-निषेध नहीं है । विना क्लेश, बिना न्यास, बिना मुद्रा, बिना स्तोत्र कवच प्रयोग किये ही जप करने से अकस्मात् ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है । जैसा कि कहा है :—

'ब्रह्मबुद्धया निर्विकल्पमेतेष्वाचरणञ्च यत् ।
कुलाचारः स एव आद्ये धर्मकामार्थमोक्षदः ॥
न काल शुद्धिः नियमो न वा स्थान निरूपणम् ।
अभुक्तो वापि भुक्तो वा, स्नातो वास्नात एव वा ॥
साधयेत् परमं मन्त्रं स्वाचारेण साधकः ।
विनान्यासं बिना क्लेशं स्तोत्रञ्च कवचं विना ॥
विना न्यासं विना मुद्रां विना सेतुं वरानने ।
अकस्मात् परब्रह्म साक्षात्कारो भवेत् प्रिये" ॥

अजपा का साधन भी प्रातः जगने पर तुरन्त प्रारम्भ कर देने के विधान में भी बाह्यशुद्धि की आवश्यकता नहीं है ।

गुरुवर श्री स्वामीजी महाराज से शुद्धि-अशुद्धि की चर्चा करने पर उन्होंने श्रीमुख से कहा कि बाह्यशुद्धि में भी कोई अपनी हानि नहीं होती । किन्तु यह शुद्धि वाह्य वेश भूषा के सौन्दर्य का प्रसाधन बन कर देह अभिमान का माध्यम न बन जाय । गुरु महाराज ने अवधूत उपनिषद् के वचनों की ओर संकेत किया । कहा है—

"निद्रा भिक्षे स्नान शौचे नेच्छामि न करोमि च ।
द्रष्टारश्चेत् कल्पयन्तु किं मे स्यादन्य कल्पनात् ॥
अथवा कृतकृत्येऽपि लोकानुग्रह काम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेहं मम का क्षतिः ॥
देवार्चन स्नान शौच भिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक्तदा पठत्वाम्नाय मस्तकम्" ॥

अवधूत को लोक संग्रह के लिये शुद्ध कर्म करने की भी स्वीकृति है, निषेध नहीं ।



श्री पीताम्बरापीठ, दतिया (म. प्र.) से प्रकाशित

ग्रन्थ–सूची

क्र.	नाम पुस्तक	लेखक/टीकाकार	माध्यम	मूल्य
१.	श्री बगलामुखी रहस्यम्	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज पीताम्बरा-पीठ	संस्कृत	१८–००
२.	पञ्चोपनिषद् (प्रकाश भाष्य)	" " "	"	४–५०
३.	प्रश्नोपनिषद् (प्रकाश भाष्य)	" " "	"	१–००
४.	आनन्दलहरी शङ्कराचार्य	श्री रामकवि डिण्डिम भाष्य एवं गोपाल सुन्दरी टीका	"	७–००
५.	नारदीय शिक्षा नारदमुनि विरचित	भट्ट शोभाकर विरचित शिक्षा विवरणोपेता टीकासहित	"	१–५०
६.	श्री महात्रिपुरसुन्दरी पूजा पद्धति	राष्ट्रगुरु पूज्यपाद १००८ श्री स्वामीजी महाराज	"	५–००
७.	कामकला विलास	पुण्यानन्दनाथ	"	५–००
८.	महाविद्याचतुष्टयम् (तारा–धूमावती, भुवनेश्वरी-(मातङ्गी	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज	"	८–००
९.	रेणुका–तंत्रम्	" " "	"	६–००
१०.	शरभ–तंत्रम्	" " "	"	५–००

क्र.	नाम पुस्तक	लेखक/टीकाकार	माध्यम	मूल्य
११.	श्रीविद्यारत्नसूत्रम् गौडपादाचार्य कृत	श्री शंकरारण्यमुनिकृत दीपिका सहितम्	संस्कृत	३–००
१२.	पञ्चस्तवी	” ”	”	०–५०
१३.	तांत्रिक–पञ्चांग	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज	”	७–००
१४.	घेरण्ड संहिता–घेरण्ड मुनि	” ” ”	संस्कृत-हिन्दी	५–००
१५.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम् शाक्त दर्शन	” ” ”	हिन्दी	२–००
१६.	ईश्वर गीता कूर्मपुराणान्तर्गत	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज	हिन्दी	६–००
१७.	वैदिक–उपदेश	” ” ”	”	५–००
१८.	वैदिक–उपदेश	अनु. श्री. जी. एन. पिंगले	अंग्रेजी	१५–००
१९.	अथर्ववेदाङ्ग ज्योतिष	अनु. पं. छोटेलाल शर्मा आचार्य पं. ओं. नारायण द्विवेदी	हिन्दी	१–००
२०.	पुरश्चरण पद्धति	स्व.योगीन्द्रकृष्ण दौर्गादत्ति शास्त्री	”	२–५०
२१.	लेख–संग्रह	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज	”	१२–००
२२.	वेदान्त प्रबोध सत्यबोधाश्रम प्रणीत	अनु. डा. शिवशरण शर्मा	संस्कृत हिन्दी	२–००
२३.	सिद्धान्त रहस्य	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज	हिन्दी	३–००
२४.	सिद्धान्त रहस्य	अनु. श्री शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी	संस्कृत	३–००
२५.	सिद्धान्त रहस्य	अनु. सी. डी. पाण्डे	अंग्रेजी	६–००
२६.	सौंदर्य लहरी पद्यानुवाद	अनु. स्व. फौजदार बलवीरसिंह	पद्य हिन्दी	१–००
२७.	परश्चरण	श्री सूर्यप्रकाश गोस्वामी	पद्य	१–००
२८.	त्रिपुरा महिम्न स्तोत्र	स्व. योगीन्द्रकृष्ण दौर्गादत्ति शास्त्री	संस्कृत-हिन्दी	३–००

क्र.	नाम पुस्तक	लेखक/टीकाकार	माध्यम	मूल्य
२९.	चिद्-विलास (श्रीविद्या रहस्य)	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज	सं.-हिन्दी	१-५०
३०.	चिद्-विलास	अनु. डा. योगेश मिश्र	अंग्रेजी	३-००
			सजिल्द	७-००
३१.	सप्तविंशति रहस्यम्	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज	संस्कृत	७-००
३२.	वातुलनाथ सूत्र अनन्तशक्तिपादकृत	पं. कृष्णानन्द बुधौलिया	संस्कृत-हिन्दी	२-००
३३.	शिवसूत्रं-भक्तिसूत्रञ्च	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज ऋज्वर्थ बोधिनी कृति	संस्कृत	१-००
३४.	शिवसूत्रं स्पंदकारिका	किशोरीलाल चउदा	संस्कृत-हिन्दी	१-५०
३५.	मातृका चक्र विवेक	ले. सिद्धश्री स्वतन्त्रानन्दनाथ भाष्य-शिवानन्द अनु. कृष्णानन्द बुधौलिया	संस्कृत-हिन्दी	१५-००
३६.	स्वरोदय विज्ञान	संकलनकर्ता मास्टर मोतीलाल	हिन्दी	३-००
३७.	योग विज्ञान प्रथम भाग	अज्ञात	"	१०-००
३८.	योग विज्ञान द्वितीय भाग	अज्ञात	"	४-००
३९.	योग-दर्शन महर्षि पातञ्जलि प्रणीत	अनन्तपण्डितकृत वृत्ति	संस्कृत	२-५०
४०.	योग दर्शन महर्षि पातञ्जलि प्रणीत	अनु. डा. योगेश मिश्र	अंग्रेजी	४-००
४१.	दर्शन शास्त्र संग्रह	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज	हिन्दी	५-००
४२.	छिन्नमस्ता नित्यार्चन	" " "	"	६-००
४३.	ताराकर्पूरराजस्तोत्र	" " "	हिन्दी-पद्य	१-५०
४४.	केनोपनिषद्	अनु. डा. योगेश मिश्र, जयपुर	हिन्दी	२-००
४५.	ईशावास्योपनिषद्	" " "	"	३-५०

क्र.	नाम पुस्तक	लेखक/टीकाकार	माध्यम	मूल्य
४६.	माण्डूक्योपनिषद्	टीकाकार–पं. कृष्णानन्द बुधौलिया	हिन्दी	१–७५
४७.	कठोपनिषद्	टीकाकार–बदनसिंह	"	५–५०
४८.	मुण्डकोपनिषद्	" "	"	६–००
४९.	पराप्रवेशिका महामाहेश्वराचार्य क्षेमराज विरचित	टीकाकार–पं. कृष्णानन्द बुधौलिया	हिन्दी पद्या-नुवाद एवं टीका	०–७५
५०.	शाक्त सौरभ	ले. श्री बदनसिंह	हिन्दी	७–००
५१.	शाक्त सौरभ (ज्ञान खण्ड)	" "	"	१२–००
५२.	ललिता सहस्रनाम	भास्कर राय विरचित सौभाग्यभास्कर	संस्कृत	३२–००
५३.	सुभगोदय	आचार्य गौडपाद कृत अनु. कृष्णानन्द बुधौलिया	संस्कृत-हिन्दी	यन्त्रस्थ
५४.	भैरव–विज्ञान	पं. कृष्णानन्द बुधौलिया	हिन्दी	९–००
५५.	प्रश्नोपनिषद्	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी कृत प्रकाश भाष्य का हिन्दी अनुवाद अनुवादक–कृष्णानन्द बुधौलिया		यन्त्रस्थ
५६.	बह्वृचोपनिषद्	अप्पय दीक्षित कृत संस्कृत भाष्य एवं कृष्णानन्द कृत हिन्दी टीका	संस्कृत-हिन्दी	१–००

आवश्यकतानुसार मूल्य में परिवर्तन हो सकता है।


श्री पीताम्बरा पीठ
ह्रीं
दतिया (म.प्र.)


श्री पीताम्बरा पीठ
दतिया (म.प्र.)